वर्ष ६, अंक ५

श्रीकृष्णाय नमः

माघ पूर्णिमा १९८८

वार्षिक चन्दा २)

सम्पादक—
म० कृष्णानन्द, भूमानन्द

एक प्रति ।)

चरण-पादुका-पूजन ।

Gita Press, Gorakhpur

जनता में भगवद्भक्ति भाव को जाग्रत करने वाली सचित्र मासिक पत्रिका ।

वर्ष ६ | श्री भगवद्भक्ति आश्रम रेवाड़ी, माघ पूर्णिमा सं० १९८८ | अंक ५ पूर्ण संख्या ६५

वेदोपदेश

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चक्रुः पुरुषस्य ।
कतिस्तनौ व्यदधुः क कफोडो कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन ॥ १॥

कितने और कौनसे वे देव थे कि जिन्होंने मनुष्य की छाती और गला जोड़ दिया। किन्होंने स्तन बनाये ? किसने कोहनी और किसने कन्धे और किसने पीठ रचे थे ? ॥ १ ॥

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम् ।
केनेममग्निं पुरुषः केन संवत्सरं ममे ॥ २ ॥

किस से मनुष्य विद्वान् को प्राप्त होता है ? किस से इस परमात्मा को प्राप्त होता है किस से इस अग्नि को प्राप्त होता है ? किस से वर्ष को मिलता है ? ॥ २॥

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौ रुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचोहितम् ॥ ३ ॥

किसने यह पृथिवी बनाई किसने द्युलोक स्वर्ग ऊपर रचा है किसने यह अन्तरिक्ष बीचका अवकाश तिरछा और व्यापा हुआ रचा है ॥ ३ ॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्राह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ४ ॥

जिस के कारण इसको पुरुष कहते हैं, ऐसे ब्रह्म के नगर को जो जानता है उसको बुढापे के पहले आंख नहीं छोड़ती है तथा प्राण भी नहीं छोड़ता है ॥ ४ ॥

अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ५ ॥

जिसमें आठ चक्र हैं और जिसके नौ दरवाजे हैं ऐसी यह देवताओं की नगरी "अयोध्या" है उस में प्रकाश से भरा हुआ तेजोमय कोश है। वही स्वर्ग अर्थात् प्रकाशमय है ॥ ५ ॥

भगवद्भक्ति

(ले० श्रीस्वामी भोले बाबा जी)

माया नास्ति जगन्नास्ति यस्य ज्ञान महोदधेः ।
सुप्रशान्तं महानन्दं त्यागिनं प्रणमाम्यहम् ॥

वैराग्य निष्ठा ।

मंसाराम- महाराज ! आपने ज्ञानध्यान निष्ठा सुनाई थी, आज वैराग्य और शान्ति का स्वरूप समझाइये और विरक्त प्रशान्त भक्तों की कथायें भी सुनाइये, क्योंकि त्याग से ही श्रुति में मोक्षकी प्राप्ति बताई है, ईशावास्य श्रुति का वचन है कि ईश्वर से यह चराचर विश्व व्याप्त है, त्याग से अपनी रक्षा कर। इस श्रुति से यह ही सिद्ध होता है कि त्याग यानी वैराग्य से ही भगवत्प्राप्ति होती है, त्याग बिना नहीं होती।

मस्तराम-भाई वैराग्य बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती, यह कथन ठीक ही है। भगवान् ने स्वयं नरनारायण का अवतार बदरिकाश्रम में लेकर तप और वैराग्य की प्रवृत्ति संसार में फैलाई है। हे मंसाराम ! इसमें किंचित् भी संदेह नहीं है कि तीव्र वैराग्य के परिपक्व होने के पीछे ही शान्ति की पदवी प्राप्त होती है, इसलिये मैं तुझसे वैराग्य का स्वरूप और शान्तरस का वर्णन करता हूं। प्रत्येक प्राणी जानता है कि एकाग्र मन हुए बिना भगवत्प्राप्ति नहीं होती और मन एकाग्र तब ही होता है, जब सर्व सम्बन्धों का त्याग हो। जब अर्जुन ने भगवान् से कहा कि मन का रोकना ऐसा कठिन है, जैसा कि वायु का रोकना कठिन है, क्योंकि मन चंचल बलवान् और हठ वाला है। तब भगवान् ने उत्तर दिया कि अभ्यास और वैराग्य से मन वश में

आजाता है। इससे सिद्ध होता है कि मन वश करने का वैराग्य मुख्य साधन है। वैराग्य का सूक्ष्म स्वरूप तो यह है कि सार को ग्रहण करना और असार को त्याग देना। शास्त्रकारों ने यह वैराग्य दो प्रकार का कहा है, एक अपर वैराग्य और दूसरा पर वैराग्य। अपर वैराग्य को वशीकार कहते हैं, उसका स्वरूप यह है कि मनुष्य लोक के सुख से लेकर स्वर्ग और ब्रह्मलोक तक के सुख को त्याग कर दिया जाय। इस संसारी सुख का निर्णय शास्त्रकारों ने चार प्रकार से किया है। प्रथम सार असार का विचार और असार के त्याग का उपाय इसका नाम यतिमान वैराग्य है। यतिमान वैराग्य के बाद मनन करना कि अन्तर और बाहर के इतने अवगुण मिट गये हैं और इतने बाकी हैं, बाकी रहे हुए अवगुणों का भी त्याग करना चाहिये, इसका नाम व्यतिरेक वैराग्य है। तीसरे जहां तक स्वाद, सुख और इच्छा ये सब देखे और सुने हैं, उनकी तरफ से मन को ऐसा रोकना कि फिर मन उनकी तरफ न जाय, इसका नाम इन्द्र वैराग्य है। चौथे सुख और स्वाद की इच्छा का लेश भी मन में बाकी न रहे, इसका नाम वशीकार है। यहां तक अपर वैराग्य का वर्णन किया।

पर वैराग्य में कोई विशेष निर्णय नहीं है। स्वरूप उसका यह है कि माया से मिले हुए सत्व, रज और तम, उन तीन गुणों का त्याग करके केवल भगवत् सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा के साक्षात् स्वरूप में मग्न होजाना और माया के गुणों से सर्व प्रकार वैराग्य होना। इस से यह ही सिद्ध हुआ कि भगवत् की प्राप्ति केवल वैराग्य से होती है। जब तक सब प्रकार के सुख और स्वादों की चाह से वैराग्य न होगा, तब तक कदापि भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। विचार से भी यह ही सिद्ध होता है, क्योंकि मन एक मटके के समान है, जब तक यह संसारी सम्बन्ध और सुख भोग की चाह से भरा हुआ है, तब तक भगवत् के आने और उसमें निवास करने की ठौर ही कहां है। यदि मन रूपी घट को भगवत् से पूर्ण करने की चाह है, तो उसको दूसरे सब संबन्ध और सुखभोग की चाहना से खाली करना चाहिये, यह ही मुमुक्षु और भगवत्प्रेमी का मुख्य कर्तव्य है।

हे मंसाराम! शास्त्रों में यह जो लिखा है कि गृहस्थाश्रम के पश्चात् घर को त्याग कर वनवास करे, तो उसका अभिप्राय यह ही है कि गृहस्थ दशा में भगवत् का भजन नहीं हो सकता। जब मन संसार के सब कार्यों से अलग होगा, तब ही मन एकाग्र होकर भगवत् में लगेगा। जो कोई संसार का त्याग और भगवत् की प्राप्ति करना चाहे, उसे सार का ग्रहण और असार का त्याग, इन दोनों के विचार में ही लगा रहना चाहिये, नहीं तो केवल इसका नाम वैराग्य नहीं है कि घर को त्याग कर, स्त्री को छोड़ कर फकीर हो गये और बाबाजी कहलाने लगे। यदि इसका नाम वैराग्य हो, तो वन के जन्तु सदा वन में रहते हैं, उनको भगवत्प्राप्ति होजाय। अथवा हजारों मनुष्य दरिद्रता के कारण शरीर पर वस्त्र नहीं रखते और न एक कौड़ी उनके पास होती है, न स्त्री रखते हैं, न बेटा रखते हैं, तो क्या उनको भगवत् की प्राप्ति हो जाती है? कदापि नहीं होती किंतु सदा आवागमन के जाल में फंसे रहते हैं। जिसको सार असार का विचार अनुक्षण रहता है, जो सार के ग्रहण और असार के त्याग में सर्वदा लगे रहते हैं, वे गृहस्थ में रहते हुए भी वनवासी ही हैं, उनके लड़के बाले उनके लिये सत्संगी और साधु ही होते हैं। इस कथन की पुराणों में जनक, प्रह्लाद और राजा बलि आदि की हजारों कथायें

और भक्तमाल में सैकड़ों भक्तों की कथायें साक्षी हैं।

हे मंसाराम! जिन लोगों का मन कुटुम्ब और परिवार में फंसा हुआ है और जिनको सार असार का विवेक नहीं है, वे यदि सबको छोड़ कर जंगल में चले भी जावें, तो भी हजार दुनियादारों के बराबर हैं। साधक को यह भी एक बात जाननी चाहिये कि घर का त्याग करने पर और सार असार का विवेक होने पर जितना २ मन निर्मल होता जाता है, उतना ही भगवत् के स्वरूप का प्रकाश होता जाता है और साथ ही परोक्ष वस्तु और अभूत बात का ज्ञान, वाणी की सिद्धि, आशीर्वाद और शाप का सामर्थ्य, वा इच्छित पदार्थ का प्राप्त हो जाना और अणिमादि सिद्धियां ये सब प्राप्त होने लगती हैं। यदि, विरक्त योगी का मन उन सिद्धियों में लग गया, तो सब जाता रहा, फिर कहीं ठिकाना लगना कठिन है। उस समय योगी बहुत ही सावधान रहना चाहिये, मन को सिद्धियों में न लगने देना चाहिये। जैसे विष्ठा और वमन को घिनावना जान कर कोई उन्हें ग्रहण नहीं करता इसी प्रकार साधक को सिद्धियों ही ओर मुख भी न करना चाहिये। जो योगी सिद्धियों में नहीं फंसता, वह तुरन्त ही वाञ्छित पद को प्राप्त कर लेता है, यदि उन बटमारों ने लूट लिया, तो सातवें पाताल को चला जाता है।

हे मंसाराम! शान्त रस का स्वरूप वैराग्य मिला हुआ प्रकट होता है परन्तु उपनिषद् और रस शास्त्र के अनुसार शान्तरस अलग स्थापित किया गया है, इसलिये रसों की पद्धति के अनुसार उस शान्तरस का वर्णन करता हूं, आरम्भ में रसों के प्रकट होने का हेतु विभाग, अनुभव, सात्विक और व्यभिचारी चार सामग्री है। इस शांतरस की प्रथम सामग्री विभाग इस प्रकार है जो भगवत् सब मंगलों के मंगल, हैं आनन्द की खानि हैं, असंख्य ब्रह्माण्डों के नायक और रखने वाले हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्ववित् हैं, तीनों कालों में विराजमान हैं, जिनका नाम पाप और महाकष्ट से छुड़ाने वाला है, जो परमानन्द के देने वाले गुणों की राशि हैं, जिनके बराबर अथवा जिन से अधिक कोई नहीं है, वे पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा, सच्चिदानन्दघन, भगवत् अपने इष्टदेव विषयालम्बन हैं और शिव, सनकादिक, नारद तथा दूसरे भक्त आश्रयालम्बन हैं। दूसरी सामग्री अनुभाव इस प्रकार है। नासा के अग्र पर दृष्टि, अनुक्षणध्यान, सब ओर से निर्मल होना और सुख दुःख का त्याग। तीसरी सात्विक सामग्री इस प्रकार है—सात्विक की आठ दशाओं में एक दशा मूर्च्छा नहीं होती और सात कुछ २ और किसी २ समय पर होती हैं। चौथी सामग्री व्यभिचारी में स्मृति और निर्वेदादि कई दशा इस रसके योग्य किसी २ समय प्रकट हो २ कर जाती रहती हैं। स्थायी भाव इस रस का इस प्रकार है—सब में समदृष्टि हो, ब्रह्मलोक तक के सुखों में अरुचि हो। जिन भगवद्भक्तों की वैराग्य के प्राप्त होने पर शान्त रस में दृढ स्थिति हो जाती है, इनके ये लक्षण हैं—वे किसी जीव से वैर नहीं रखते, सब के मित्र, सब पर दया करने वाले होते हैं, अहंकार और गर्व से रहित होते हैं और सुख दुःख दोनों को बराबर जानते हैं। शहनशील और सब प्रकार से संतुष्ट होते हैं, भगवत् के ध्यान में अनुक्षण मन लगाये रहते हैं, भगवच्चरणों में दृढ और अनन्त विश्वास रखते हैं, सब इन्द्रियें भगवत् स्वरूप में मग्न होती हैं। उनसे किसी को दुःख नहीं पहुंचता और वे न आप किसी से दुःखी होते हैं। सुख, क्रोध और भय से जो अनेक प्रकार की चिन्ता मन में उठती रहती हैं, उससे छुटे हुए होते हैं। न कभी प्रसन्न

होते हैं, कभी किसी बात का सोच नहीं करते और न किसी वस्तु की चाहना करते हैं। उनका मन निर्मल और एकाग्र होता है। वे राग द्वेष से रहित होते हैं। बुद्धिमान् और पवित्र होते हैं शत्रु मित्र दोनों को समान जानते हैं। संसार और संसारी कार्य से अलग और अरुचि वाले होते हैं। मान अपमान, निन्दास्तुति, सुख दुःख, शीतोष्ण को सम मानते हैं। क्षुधाशान्त के हेतु थोड़े से ही में संतुष्ट रहते हैं। घरबार से न्यारे होते हैं। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है। हे संसाराम! यह मैंने शान्तरस का दिग्दर्शन कराया है, नहीं तो वैराग्य और शान्तरस का माहात्म्य लिखने और कहने में नहीं आसका, जो अनुभव करता है, जानता है। एक भक्त भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना करता है:-

हे श्रीकृष्ण स्वामी! अन्तर्यामी! कहाँ मैं तुच्छ प्राणी! और कहां शान्तरस की पदवी सुनानी! यद्यपि आप की कृपा से सब कुछ लाभ हो सकता है, क्योंकि आप एक क्षण में मशक को ब्रह्मा और ब्रह्माको मशक, कुलिश का तृण और तृण को कुलिश कर सक्ते हैं। जब मैं अपने अपराध और अकर्म पर दृष्टि करता हूं, तो किसी बात के लिये भी प्रार्थना नहीं कर सक्ता। यदि निर्लज्ज होकर वैराग्य शान्तरस मांगूं, तो यह सोच होता है कि आप श्याम सुन्दर नवलकिशोर के रूप अनूप के चिन्तवन के हेतु क्यों न प्रार्थना करूं कि जिसके ज्ञान और वैराग्य दोनों सेवक और दास हैं। अरे मन! यदि तू इस रूप और समाज के चिन्तवन में लग जाय, तो तेरी पदवी सब से ऊंची हो जाय-

चित्रकूट का सुहाना पर्वत है, पर्वत के निकट मंदाकिनी का पावन तट के समीप शोभायमान वन है, वन में तमाल, कदम्ब, आम, चम्पा, मौरसी आदि के अनेक वृक्ष हैं, उन वृक्षों के मध्य में चार वृक्ष हैं, एक वट है, दूसरा पीपल है, तीसरा प्लक्ष हैं और चौथा तमाल है। उनके ऊपर भांति २ की बहुत ही ललित हरी, रंग २ के सुगंधित फूलों की लता छाई हुई है। वृक्षों के नीचे इन्द्रादिक देवताओंने भील बन कर एक परम शोभन कुटी रची है, कुटी के आगे एक बड़ी वेदी है। श्रीजानकी महारानी, अखिल ब्रह्म डेश्वरी ने अपने श्रीहस्त-कमल से रच कर उस वेदी की शोभा दूनी करदी है। वेदी के चारों ओर फुलवारी है, उस फुलवारी में रायबेल, चमेली, दवना, मरुआ, मदनबाण आदि के रंग २ के फूल ऐसी सुन्दरताई से खिले हुए हैं कि जिधर को दृष्टि जाती है, उधर ही मन बरबस अटक जाता है। फुलवारी के बीच में श्रीरघुनन्दन स्वामी, शान्त स्वरूप, शोभाधाम विराजमान हैं। उनके मुख की शोभा के सामने नीलमणी, कमल, घन और चन्द्रमा की उपमा फीकी है। मुनिवेष बनाये हुए हैं, शिर पर जटाओं का मुकुट है, उस मुकुट में जगह २ श्रीमहारानी ने फूल गूँथे हैं। कानों में फूलों के कुण्डल हैं, हाथों में फूलों के कड़े हैं, गले में वनमाला है, धनुषबाण धारण किये हुए हैं, वाम अङ्ग में श्रीजनकनन्दनी शोभित हैं, सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी महाराज शस्त्र धारण किये हुए सेवा में हाथ बाँधे खड़े हुए हैं, चारों ओर मुनि बैठे हुए हैं, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर हो रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानों मुनिमंडली ज्ञान सभा है, उसमें श्री सीतामहारानी भक्ति का शरीर धारण करके और श्रीरघुनन्दन साक्षात् सच्चिदानन्द रूप शरीर धारण करके विराजमान हैं।

कथा रन्तिदेवजी की।

रन्तिदेवजी राजा दशरन्त के वंश में थे।

यह ऐसे परम भागवत हुए हैं कि राज्य करते समय इन्होंने राज्य की संपूर्ण आमदनी ब्राह्मण सेवा और यज्ञ दान इत्यादि में लगा दी थी। जब वे राज्य और संसार को असार जान कर राज्य को त्याग करके स्त्री पुत्र सहित वन में जाकर भगवद्भजन करने लगे, तो उस दशा में भी जो कुछ मिल जाता था, उसको याचक और भूखों को दे देते थे। एक बार कई दिन पीछे थोड़ा सा नाज भगवत् इच्छा से मिला, उसके तीन भाग करके भगवत् अर्पण करके भोजन करने बैठे। इतने ही में एक ब्राह्मण आगया और उसने भोजन की याचना की। राजा ने अपना भाग उठा कर उसे दे दिया। इतने ही में एक भूखा शूद्र आया। राजाने लड़के का भाग उसे दे दिया। पीछे एक म्लेच्छ ने आकर याचना की राजा ने स्त्री का भाग उसे उठा दिया। तीनों भूखे ही रह कर भगवद्भजन करने लगे। भगवत् राजा को भजन, वैराग्य और दया में दृढ़ देख कर प्रसन्न हुए, साक्षात् दर्शन दिये और कहने लगे कि जो चाहना हो वर माँगो। राजा ने विनय किया कि सिवाय आपकी भक्ति के और कुछ चाहना नहीं है, अपनी भक्ति दीजिये और यह संसार अनेक प्रकार के दुःखों में फंसा हुआ है, इन सब का दुःख मुझे मिले और मेरे भाग्य में जो कुछ सुख हो, वह इन सब को मिले, यह दूसरा वरदान माँगता हूं। भगवत् इस परोपकार और दया से बहुत ही प्रसन्न हुए और जो पद परम योगियों को मिलता है, वह ही पद उनको दिया। हे संसाराम! जो मूढ़ भगवद्भजन से विमुख हैं, उनको संसार के सब सुख और ऐश्वर्य दुःख रूप हो जाते हैं और जो भगवद्भक्त और भजनानन्द हैं, उनको सब दुःख और पाप और सब सुख और पुण्य परमानन्द रूप होजाते हैं। सच कहा है-

कुं-भजते जो विश्वेश को, दुःख न पाते लेश।
तजते हैं जो ईश्वर को, पाते सदा कलेश॥
पाते सदा कलेश, ईशको तजने हारे।
सुखी होंय भरपूर, ईश को भजने हारे॥
रन्तिदेव सम धन्य, विषय भोजन जे तजते।
भोला! वे हैं प्राज्ञ, ईश निश दिन हैं भजते॥

कथा परशुराम जी की।

परशुराम जी ने अपनी भक्ति के प्रताप से जंगल देश के जंगली लोगों को इस प्रकार सत्संगी और पाषंद रूप कर दिया कि जिस प्रकार चन्दन के वृक्षों का वायु सारे वन को चन्दन कर देता है, अथवा जैसे बहुकाल का अंधकार दीपक से तुरन्त दूर हो जाता है। श्री भट्ट जी और हरिव्यास जी का जो परम्पराकामार्ग है, उसी मार्ग पर यह चलते थे। भगवत्कथा कीर्त्तन का इनका ऐसा नियम था कि इन्होंने हजारों को भगवत्संमुख कर दिया। इन्होंने भक्ति, माला, तिलक की प्रवृत्ति चलायी। यह राजधानी में रहते थे, सब प्रकार का ऐश्वर्य इनको प्राप्त था, फिर भी उस संसारी वैभव से इनको ऐसा वैराग्य था कि सबको तुच्छ जानते थे। यह दोहा उनका ही बनाया हुआ है-

दो०-माया सगी न मन सगो, सगा न यह संसार।
परशुराम या जीव को, सगो सो सिरजनहार॥

एक साधु इनकी परीक्षा लेने को गया और कहने लगा कि आपको भगवत् से प्रीति है, तो इस वैभव से क्या प्रयोजन है, अलग रह कर भजन करना चाहिये। परशुराम जी उस साधु का अभिप्राय जान गये और सब छोड़ कर, कोपीन बांध कर पर्वत की गुफा में जा बैठे और भजन करने लगे। संयोगवश वहाँ एक बंजारा आगया और उसने बहुत साधन, पालकी और राजाओं का

सामान इनके भेट किया। साधु समझ गया कि परशुराम जी को वैभव की कुछ चाहना नहीं है परन्तु भगवत् की इच्छा से आप से आप समस्त वैभव आते हैं। साधु लज्जित होकर इनके चरणों में पड़ा और विनय करने लगा कि मैं अज्ञता से आप से वचन बोल उठा था, कृपया मेरा अपराध क्षमा कीजिये। मैंने आपका प्रताप जान लिया, सच है कि भगवद्भक्त जितना ऐश्वर्य का त्याग करतेहैं उतना ही बढ़ता है! जो संसारी सुख को न चाहेंगे और जितना भगवद्भजन में लगेंगे, उतना ही वैभव सुख उनको मिलेगा और उसके सिवाय परम निधि भगवद्भक्ति भी उनको लाभ होगी।

कु०—चाहे से कुछ ना मिले, सभी मिले बिनुचाह।
वे ही सच्चे भक्त हैं, जो हैं पूर्ण अचाह॥
जो हैं पूर्ण अचाह, भक्तिरस अद्भुत चखते।
पाते सब ऐश्वर्य, यद्यपि कुछ चाह न रखते॥
सब कुछ होता प्राप्त, कृष्ण गुण गण गाये से।
भोला! तज दे चाह, मिले ना कुछ चाहे से॥

कथा रांका बांका की।

रांका जी परम वैराग्यवान और भगवद्भक्त थे बांका उनकी स्त्री बांका रांका जी से भी अधिक भक्त थी। पांढरपुर में नाम देव जी के घर के पास इनका घर था। जंगल से लकड़ी लाते, बेच कर निर्वाह करते, दिन रात स्मरण भजन के सिवाय इनका और कुछ धंधा नहीं था। एक दिन नामदेव जी ने भगवत् से विनय किया कि बड़े शोच की बात है कि रांका बांका दोनों परम भगवद्भक्त इस प्रकार खाली हाथों से दिन काटें। भगवत् ने कहा कि क्या उपाय किया जाय, क्योंकि वे कदापि धन अंगीकार नहीं करते, तुम अपनी आँखों से यह बात देख सके हो, मेरे साथ चलो। यह कह कर भगवत् नामदेव जी को अपने साथ वन में ले गये और जिस मार्ग से रांका बांका लकड़ियां लेने जाते थे, उस मार्ग में मोहरों की एक थैली डाल दी। रांका जी की दृष्टि जो उस पर पड़ी, तो विचार किया कि स्त्री पीछे आती है, ऐसा न हो कि उसको इस द्रव्य का लोभ हो जाय, ऐसा विचार कर उन्होंने उस थैली पर धूल डाल दी। बांका दूर से इस बात को देख रही थी, पास जाकर कहने लगी कि तुम क्या कर रहे थे। रांका जी ने मोहरों के देखने का वृत्तांत और अपना विचार कहा। स्त्री कहने लगी कि महाराज! मोहर और धूल में क्या भेद है। आपको धूल पर धूल डालने से क्या प्रयोजन था? रांकाजी बहुत प्रसन्न हुए, अपनी स्त्री को बांका कह कर कहने लगे कि तेरे वैराग्य ने मेरे वैराग्य के ऊपर भी धूल डाल दी। भगवत् ने नामदेव जी से कहा कि देखा! कैसा दोनों भक्तों का वैराग्य है। पश्चात् भगवत् और नामदेव जी ने यह सोच कर कि कुछ सेवा होनी चाहिये, लकड़ियों का भार बटोर एकत्र कर दिया। रांका बांका ने उन लकड़ियों को दूसरे की बटोरी हुई समझ कर हाथ न लगाया, खाली हाथ दोनों घर चले आये और ऐसा निश्चय किया कि आज मोहरें दृष्टि में आयीं थीं, उसके अपशगुन से लकड़ियां भी हाथ न आयीं, यदि उन मोहरों को हाथ लगाते, तो न जाने क्या होता? भगवत् ने उन बटोरी हुई लकड़ियों को रांका जी के घर पहुंचा दिया और उन्होंने भगवत् की भेजी हुई जान कर उनको अंगीकार कर लिया। पीछे भगवत् ने दर्शन दिया और कुछ वस्त्र अंगीकार करने को आज्ञा दी। रूप अनूप और छवि माधुरी को देख कर रांका जी दर्शन करने में ऐसे मग्न और बेसुधि हो गये कि कुछ भान ही न रहा, इसलिये भगवान् की आज्ञा का कुछ उत्तर न देसके और नितान्त

भगवत्प्रसाद को भगवद्रूप जान कर उन्होंने अंगीकार कर लिया। पश्चात् राँका जी ने नामदेव जी से कहा कि महाराज! उस शोभाधाम, परम सुकुमार और फूल से भी अधिक कोमल अंगवाले को कंटक और भय से युक्त बन में ले जाना और परिश्रम देना तुमको कैसे अच्छा लगा? हे संसाराम! नामदेव जी और राँका जी दोनों भगवत् के बाल रूप के उपासक थे, इसलिये उनकी उपासना के अनुसार बाल रूप से प्रकट हुए।

कुं:-राँका बाँका की कथा, पढ़ कर करो विचार।
कंचन मिट्टी एकसी, दोनों हैं निस्सार॥
दोनों हैं निस्सार, सार केवल है भगवत्।
भगवत् में दे चित्त, त्याग दे जग की संपत्॥
भोला! सब दे त्याग, भक्त सोही है बांका।
होवे त्यागी धीर, हुए ज्यों बांका राँका॥

आओ

(ले० श्री हनुमान प्रसाद शर्मा 'सैनिक')

हे व्रजचन्द्र! मुकुन्द, मुरारी! केशव करुणाकन्द!
हे यदुनन्दन, श्रीपति, माधव, गोविंद, गोकुल-चन्द!!

(२)

गोपीपति, गिरिधर, बनवारी! मन मोहन छविधाम!
राधावर! श्रीकृष्ण, कन्हैया, बन्शीधर, घनश्याम!!

(३)

मटवर, यमुना, पुलिन् विहारी, दधिदानी गोपाल!
कहां छिपे! आओ! हे प्रियतम! प्यारे यशुमति लाल!!

श्रीसमर्थ रामदास स्वामी।

[ले० श्री साहित्याचार्य पं० लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी, साहित्यरत्न]

द्वितीयांक से आगे।

एक दिन समर्थ गुरु रामदास माहुली संगम पर स्नान संध्या आदि करके भिक्षा मांगते हुए सितारे में शिवाजी महाराज के महल के दरवाजे पर गये और 'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ' कह कर भिक्षा मांगी। शिवाजी ने सोचा कि ऐसे महान् गुरु को क्या भिक्षा दें? अन्त में बहुतसोच विचार कर उन्होंने यह लिखकर कि 'श्रीसमर्थ गुरु को शिवाजी अपना सम्पूर्ण राज्य व कोष अर्पण करते हैं' उस पर अपनी मोहर लगादी और बाहर आकर समर्थ की झोली में वह कागज डाला। यह देखकर श्रीसमर्थ बोले, "शिवाजी! यह कागज के टुकड़े की भीख कैसी? यदि मुट्ठी भर चावल झोली में डालते तो दोपहर का भोजन चलता।" फिर कागज पढ़ कर बोले 'बाबा हम त्यागी साधु संन्यासी हैं हम राज का क्या करेंगे। आप अपना राज्य सम्हालो। राज करना आपका काम है हमारा नहीं।' पर जब शिवाजी ने राज्य को स्वीकार करने का अत्यन्त आग्रह किया तब समर्थ ने उन्हें अपनी

पादुका दे दीं और कहा कि आप मेरी ओर से राज काज उचित रूप से सम्हालिये। राज का झंडा मेरी ओर से भगवां रखो उसी दिन से शिवाजी ने अपने राज्य का भगवां झण्डा रखा और आज भी मरहठा नरेशों के झण्डे भगवां ही रहते हैं। धन्य है ऐसे परम उदार शिष्य को और ऐसे निस्पृह त्यागी गुरु को। उस समय से शिवाजी समर्थ से राज काज विषयक मुख्य बातों में परामर्श किया करते और समर्थ उन्हें उचित उपाय बतलाया करते थे। शिवाजी के हिन्दवी स्वराज्य की स्थापना में उनके सब से बड़े सहायक समर्थ गुरुरामदास थे। फिर भी समर्थ का प्रधान संदेश धर्म और भक्ति की स्थापना का था जैसा कि उनके प्रणीत ग्रन्थों से सुस्पष्ट है।

समर्थ रामदास जी के जीवन के दो प्रधान उद्देश्य हैं। प्रथम भक्ति की स्थापना और द्वितीय लोकोद्धार अर्थात् विश्व-कल्याण का कार्य। यदि गम्भीरतया विचार करें तो लोकोद्धार के कार्य में ही समर्थ गुरुरामदास का भक्ति प्रचार का कार्य आजाता है और यथार्थ में समर्थ का जीवनोद्देश सम्पूर्णतया लोकोद्धार के हेतु समझ पड़ता है। समर्थ के जीवनकाल में भारतवर्ष की कुछ और ही परिस्थिति होगई थी। राज्य संस्था परकीय और विधर्मी लोगों के हाथ थी। नीति और धर्म का ह्रास हो गया था। औरंगजेब अपने बाप बादशाह शाहजहां को पदच्युत कर व अपने सगे भाइयों के खून से हाथ रंग कर सम्राट् बना था। वह अत्यन्त निर्दयता से हिन्दू जाति और हिन्दू धर्म का नाश करने में लगा था। उसके आतङ्क से डर कर साधारण हिन्दूजनता अपने आचार विचार, शास्त्र, रीति रिवाज व धर्म कर्म आदि छोड़ने लगी थी। व्यभिचार, झूठ, धोखेबाजी और दुराग्रह का दौर दौरा था। सर्वत्र अशान्ति फैल रही थी और लोग ईश्वर को भूल रहे थे। ऐसे भयंकर पतन के समय में समर्थ गुरु ने अपना लोकोद्धार का कार्य आरम्भ किया था। उन्होंने ऐसे समय में परमार्थ मार्ग की शिक्षा दी। यदि उस समय परमार्थ मार्ग की शिक्षा न दीजाती तो कौन कह सकता है कि पतित बद्ध और परतन्त्र समाज सदा के लिये नष्ट हो जाने से बचता। समर्थ गुरुने दक्षिण में जो कार्य किया है उसकी समता उत्तर भारत के यदि किसी महात्मा से दी जा सकती है तो वे गुरुगोविन्द सिंह हैं।

समर्थ गुरुरामदास स्वामी ने लोकोद्धार के तीन मुख्य उपाय बतलाये हैं। प्रथम नीतिस्थापना, द्वितीय धर्म स्थापना और तृतीय राज्य स्थापना। समर्थ के शब्दों में हम इन्हें (१) व्यवहार लक्षण या सद्वर्तन, (२) हरि कथा निरूपण और (३) राजकरण कह सकते हैं। समर्थ ने इन तीनों के स्वरूप व इनकी स्थापना के मार्गों का अत्युत्तम वर्णन किया है। उसका संक्षिप्त वर्णन कर सकना असंभव है क्योंकि समर्थ गुरु ने स्वयं ही उसे सूत्र रूप में कहा है फिर भी उसका स्थूल परिचय मात्र देना है जिससे इस लेख के पाठकों को समर्थ के मार्गों का कुछ बोध होसके।

नीति-स्थापना-परतंत्र पतित समाज में नीति स्थापना की अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि नीति के ह्रास के कारण उसमें निंदा, द्वेष, अनीति, अनाचार, आलस्य, कपट, कलह, क्रूरता, कायरता, पाखण्ड आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें दूर हटाये बिना समाज का उद्धार नहीं हो सकता। इसके लिये नीति की स्थापना आवश्यक है। नीति से दुर्गुण दूर होते हैं और सद्गुण आते हैं जिससे मनोवृत्तियां निर्मल होती और मनुष्य कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर होता है। मूर्खों में नीति का उपदेश

करना उतना कठिन नहीं है जितना कि स्वार्थांध पठित मूर्खों में है। नीति स्थापना के लिये समर्थ ने संस्थायें स्थापित करने का उपदेश दिया है। वे बतलाते हैं कि उत्तम पुरुषों को अपने उच्च नैतिक आचरणों के द्वारा एकान्त सेवी रह कर लोक समुदाय पर प्रभाव डालना चाहिये। फिर साधारण जीवन व्यतीत करते हुए लोकसमुदाय इकट्ठा करना चाहिये और उसके द्वारा जन-समाज की वास्तविक नैतिक दशा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तदनन्तर उत्तम गुणों का सम्पादन करके लोगों को सिखलाना चाहिये और अपने समुदाय की उत्तरोत्तर वृद्धि करते जाना चाहिये। अपने समुदाय के लोगों को उनकी योग्यता के अनुसार कार्य सौंपना चाहिये और पास रखने के योग्य लोगों को अपने पास रख कर उचित परामर्श करना चाहिये। जो सुदूर प्रान्तों में काम करने के योग्य हों उन्हें दूर देशों में भेज कर अपना समुदाय बढ़ाते जाना चाहिये। सावधानी से सब से मिलते रहना चाहिये और भ्रमण भी करना चाहिये क्योंकि एक जगह बैठे रहने से कार्य नहीं चल सकता। नीति के उपदेश में समता और जीवदया के सिद्धान्त प्रभावोत्पादक ढंग से अवश्य ही समझाना चाहिये व क्षमा का भूषण धारण करना चाहिये। ऐसा करने से विश्व में नीति की स्थापना होगी और संसार सुखमय बन जावेगा। नीति से जब सम्पूर्ण संसार में सारासार समझने का विवेक हो जावेगा तब पाखण्ड, द्रोह, छल, अत्याचार आदि नष्ट होंगे।

धर्म-स्थापना– समर्थ रामदास जी ने राम भक्ति को ही सर्वोपरि धर्म माना है। उनका मत है कि भक्ति से सम्पूर्ण धर्म सिद्ध होते हैं। भक्ति से ही सर्वव्यापी परमात्मा के दर्शन इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ जीव व परमाणु में होने लगते हैं। भक्त सर्वान्तर्यामी भगवान् का उपासक होता है उसको किसी से द्वेष व ग्लानि नहीं होती वह विश्व रूप भगवान का सच्चा सेवक होता है और अपनी सेवा का कुछ पुरस्कार नहीं चाहता। विश्वरूप भगवान् की सेवा से प्रसन्न करने में ही वह सतुष्ट रहता है। उसके प्रत्येक कार्य भगवान् के लिये ही होते हैं। विश्वप्रेम और विश्वबन्धुत्व के उदार भाव भक्ति मार्ग में पूर्ण रूपेण प्रस्फुटित और परिपुष्ट होते हैं। इसी से समर्थ रामदास भक्ति को ही धर्म मानते हैं। भक्त तो प्रत्येक स्थान व प्राणी में सर्वव्यापी भगवान् की छवि देखता है फिर वह मिथ्या, पाखण्ड, अनीति, कपट और क्रूरता आदि किसी से स्वप्न में नहीं कर सकता। हृदय में भक्ति के उदय होते ही सम्पूर्ण अधर्म नष्ट हो जाते हैं और ईश्वर प्रेम का अमृतमय झरना झरने लगता है जिससे सम्पूर्ण लोक का कल्याण होता है। समर्थ के मतानुसार (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) विष्णु स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चन (६) वन्दन (७) दास्य (८) सख्य और (९) आत्म निवेदन नामक नवधाभक्ति में आत्म निवेदन भक्ति सर्व श्रेष्ठ है। अन्य अष्टविधा भक्ति में जीवात्मा और परमात्मा में भेद भाव रहना सम्भव है अर्थात् भक्त और भगवान् में द्वैत की कल्पना रहना सम्भव है पर आत्मनिवेदन भक्ति में विभक्ति का भाव न रहने से भक्त और भगवान् की अभिन्नता से अनन्यता हो जाती है फिर द्वैत की कल्पना रह नहीं जाती। इसी से भक्ति को उपासना व प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। समर्थ के मत से धर्म स्थापना करने वाले सिद्ध पुरुष साक्षात् ईश्वर के अवतार होते हैं। कहते हैं:–

"धर्म स्थापनेचे नर। ते ईश्वराचे अवतार॥"

भक्ति मार्ग में प्रतिमा पूजन करना चाहिये। भक्त भगवान् की मूर्त्ति की कल्पना अपनी अभिरुचि के अनुसार कर उसका पूजन करे पर इस भाव को न भूले कि परमात्मा एक है वह सर्वव्यापी है। परमात्मा की एकता और व्यापकता को पहिचान कर मूर्त्ति की पूजा प्रेम पूर्वक करना चाहिये। सगुण निर्गुण उपासना के भेद साधक अवस्था के हैं। सिद्धावस्था में सगुण का एकीकरण हो जाता है।

इस भक्तिमार्ग की स्थापना के लिये समर्थ ने ब्राह्मण मण्डली, सन्त मण्डलीऔर भक्त मंडली स्थापित करने का आदेश दिया है। परमात्मा के ज्ञान पूर्वक भजन में दशों दिशायें गूंजनी चाहियें। ऐसे प्रयत्न से कर्म काण्डी ब्राह्मण, ज्ञानमार्गी साधु, सन्त और सन्यासी तथा केवल भजन प्रिय सम्पूर्ण भक्तजन प्रेम पूर्वक एकत्रित हो सकते हैं। सिद्ध पुरुषों का प्रधान कर्तव्य धर्म स्थापन करना है। ऐसे महात्माओं को समुदाय एकत्रित कर भक्ति योग से परब्रह्म परमात्मा को रिझाना चाहिये व पतितों का उद्धार करना चाहिये एवं संसार के जीवों को भक्ति में लगाना चाहिये। भक्ति का प्रचार व प्रसार करने के हेतु एकाकी मनुष्य की अपेक्षा जन समुदाय, सभ्य समुदाय और भजन मण्डलियां विशेष उपयोगी हैं। सिद्ध महात्माओं को शनैः शनैः सावधानी से अपने ज्ञान पूर्ण उत्तम प्रेममय भाषणों द्वारा जन समूह को भक्ति में लगाना चाहिये जिससे सम्पूर्ण संसार में भक्ति फैले और दुःखनाश हो। इसके लिये उत्तम संघटन, धैर्य्य और मनोवृत्तियों के अध्ययन की समर्थ ने अत्यन्त आवश्यकता दर्शित की है। बिना इस भक्ति धर्म के समर्थ के मतानुसार "आत्मवत्सर्वभूतेषु' के भाव की दृढ़ता नहीं हो सकती और फिर विश्व का कल्याण हो ही कैसे सकता है।

राज्य-स्थापना– समर्थ के मतानुसार नीति और धर्म की स्थापना से जो लाभ होता है उसे अक्षुण्ण और चिरस्थायी करने के लिये राज्य स्थापना की आवश्यकता है। दुष्ट, लम्पट, कपटी और अत्याचारी लोगों से नीति और धर्म पर चलने वाले समाज की रक्षा के हेतु राज्य की संस्थापना अनिवार्य्यतः आवश्यक है। मिथ्या पदार्थ सुखमें आनन्द मानने वाले विषयरत कलही लोगों से, जो स्वभावतः अधर्मी, अन्यायी, और अत्याचारी होते हैं, धर्म और नीति की रक्षा करने के लिये शासक संस्था का होना अनिवार्य्य है। श्रीसमर्थ के मतानुसार नीति और धर्म के बल पर राज्य संस्था की स्थापना होनी चाहिये और जो शासक संस्था ऐसी न हो उसका विरोध प्रत्येक नीतिवान व धर्मवान व्यक्ति को करना चाहिये, चाहे वह किसी भी देश व जाति का क्यों न हो? धर्म और नीति का उद्देश्य परमार्थ प्राप्ति है इससे राज्य संस्था का मुख्य हेतु भी परमार्थ प्राप्ति होना चाहिये। इस का स्थापित करना प्रत्येक साधु महात्मा का उसी प्रकार का कर्तव्य है जिस प्रकार धर्म व नीति की स्थापना करते हैं। इसके लिये साधु महात्मा पुरुषों को बड़े जन समुदाय को अपने आधीन रख कर बड़े दम दिलासे से उससे कार्य लेना चाहिये। उद्दण्डता का त्याग करना चाहिये क्योंकि उद्दण्डता से फूट उत्पन्न होती है। इस समुदाय को सदा नीति और धर्म पर दृढ़ रखना आवश्यक है जिससे उसमें परमार्थ बुद्धि जागृत हो और लोग 'आत्मवत्सर्व भूतेषु' के भाव को प्राप्तकर सम्पूर्ण राष्ट्र को आत्मवत् समझें यही राजकीय परमार्थ दृष्टि है। जब राष्ट्र में यह बुद्धि दृढ़ हो जाती है तब नीति और धर्म की

संस्थाओं की रक्षा होती है और विश्वका कल्याण होता है

श्रीसमर्थ के मतानुसार सम्पूर्ण मानव-समाज को परमार्थ लाभ व परतंत्रता से मुक्ति के हेतु नीति, धर्म और राज्य की संस्थाओं का आश्रय लेना आवश्यक है। इन्हीं तीन संस्थाओं के आधार पर मनुष्य समाज नैतिक, धार्मिक और राजकीय स्वतंत्रता का भोग करता हुआ सच्चे परमार्थ अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है जो जीव कीसच्ची स्वार्थीनता है।

'आनन्द सदन है'

[ले० साहित्यरत्न श्री पं० बाबूलाल जी भार्गव बी.ए.]

स्वयं 'पंचानन' और सुत 'चतुरानन' के,
पूत 'गजमुख-लंबोदर' षड़ानन हैं।
वाहन 'महोक्ष नंदिराज' हैं तुम्हारे, प्रभु!
दास भूत-प्रेत औ झुटंगिनि के गन हैं॥
एतै पै दिगंबर हो, नाथ! मोहिं आचरजु-
होत एक, कैसे कै चलियतु भोजन है।
आनि परै मेहिनी तुम्हारी 'अन्न पूरना' हैं,
याही तें तुम्हारो गृह आनन्द सदन है॥

महान् संत नरसिंह म्हेता

(ले० श्री आदवजी महाराज)

महान् संत नरसिंह म्हेता १५ वीं सदी के अन्त में हुए हैं। जगत ने सन्तों-भक्तों की सख्त कसोटी ली है। जैसे सुवर्ण को पाषाण से घिसकर, धौंकती अग्नि में डाल कर, हथोड़े से ठोक ठोक कर परखा जाता है ठीक वैसे ही जगत् ने संतो-भक्तों की परीक्षा की है, भक्तराज नरसिंह म्हेता को भी इसी तरह के अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा था। कुटुम्बियों ने घर से निकाला, ज्याति जाति वालों ने जाति से बाहिर किया, केवल यही नहीं परन्तु गाँव का राजा भी निर्वासित करने को तैयार हुआ। किसी ने उनको पापी जाना, किसी ने उनको साधु माना, अनेकों ने उनको बुरा, अनेकों ने उनको भला समझा, साधुओं ने उनकी प्रशंसा की और दुर्जनों ने उनकी निंदा की इस चित्र विचित्र और बहुरंगी दुनियां में जिसने जैसा चाहा वैसा कहा परन्तु उसकी चिंता प्रभु प्रेम में रंगे नरसिंह म्हेता को कब थी? भक्तराज किसी की सुने बिना या किसी की परवाह किये बिना, इस विशाल जगत् के अटपटे और दुर्गम मार्गों से आँखे मीचे और ताल बजाते निकल गये। लोगों ने उनको देखा परन्तु पहिचान न सके, उनके नाद को सुना परन्तु समझे नहीं। गाँव के सुधारकों ने उनको दिवाना गिना, विद्वानों ने मूर्ख माना और अपने को धर्मी मानने वाले अभिमानी मनुष्यों ने उनको अधर्मी कह कर धिक्कारा। परन्तु सन्त स्वभाव वाले नरसिंह जी ने उनको भी प्रणाम किया। भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उनको भिन्न भिन्न स्वरूप में देखा, परन्तु सन्त म्हेता जी की दृष्टि भगवत् भाव की थी, इसलिये उन्होंने सर्वत्र जड़ चेतन में व्यापक प्रभु को देखा उनके शत्रु अनेक हुए परन्तु भक्तराज सब को मित्र मानते थे। जिन्होंने उनको द्वेष दृष्टि से देखा, उन पर भी उन्होंने प्रेम रूपी अमृत की वर्षा की, जिन्होंने उनको दुःख दिया उन पर भी उन्होंने दया की, जिन्होंने इस

पर जुल्म गुजारे व दुर्वचन कहे उनको भी इन्हों ने आशीर्वाद दिया। नम्रता और प्रेम जो सन्त महात्माओं के मुख्य लक्षण हैं, उनके जीवन के हरेक प्रसंग में चमकते थे। महात्मा म्हेता जी को जीवन में कैसे कष्ट सहन करने पड़े थे, इसका थोड़ा वृतान्त निम्न लिखित है:-

अपने पूज्य माता पिता के दैहान्त के पश्चात् उनके बड़े भाई ने उनका लालन, पालन किया, उनकी भाभी बड़ी दुष्ट स्वभाव वाली थी और उनको कटुवचन कहती ताना मारती थी। एक समय अपनी भाभी के तीक्ष्ण, कठोर-मार्मिक, कटु-वचनों से क्रोधित होकर म्हेता जी घर त्याग जंगल को चल दिये, उस निर्जन वन में उनको एक शिवालय दिखाई दिया और उसमें रह कर शंकर भगवान् की आराधना करने लगे, सात दिवस तो बिना आहार उपवास करके बिताये। ईश्वर कृपा से कुछ दिन पीछे उनका क्रोध शान्त हुआ, शिवजी ने उनके हृदय से तमोगुण को दूर कर सत्व गुणी बनाया। अब उनका अन्तर परमात्मा की भक्ति से ओत प्रोत होगया और उनको शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हुई। संपूर्ण जीवन में ऐसे क्रोध ने एकही वार उनको हराया था, फिर तो उन्होंने सदा के लिये क्रोध को जीता। एक अज्ञानी और अशिक्षित मनुष्य ने क्रोधावेश में आ दुर्वचन कहे, परन्तु उसके प्रति क्रोध न करना ही उचित था ऐसा उनको विचार आया क्योंकि शंकर की आराधना करने से उनके हृदय का संताप जाता रहा था। और उनको अलौकिक आत्म सुख और शान्ति प्राप्त हुई थी यह सब भाभी के वचनों का प्रभाव है ऐसा समझ, मंगलकारी ईश्वर के पवित्र नाम का स्मरण करते करते वन में से निकल घर को आये, घर आ भाभी के चरणों में साष्टांग दण्डवत् कर कहने लगे, हे देवी! हे भगवती! हे कल्याणी! आप मेरी माता हैं, उपदेश देने वाले गुरु सदृश हैं हे परम हितकारिणी! आज आपकी कृपा से मैं कृतकृत्य और पापमुक्त हुआ हूं, तुझे हजारों हजार वार प्रणाम है। जो क्रोधावेश में आकर घरसे भग छूटे थे वो नरसिंह म्हेता आज दूसरे रूप में दिखाई पड़ते थे, उनके मन के भावों ने आज दूसरा रूप धारण किया था परन्तु उनकी दुष्ट प्रकृति वाली भाभी उसी रूप में थी, उसके मन ने अपने दुष्ट भाव नहीं छोड़े थे भक्तराज के हृदय में कठोर वचन कहने वाली भाभी के लिये स्थान था परन्तु रजोगुण और तमोगुण के आवरणों में जकड़ी हुई भाभी के हृदय में या घर में संत नरसिंह म्हेता को स्थान न मिला। नरसिंह जी आज जिस माला तिलक और भगवद् भक्ति के आभूषणों से सुशोभित थे, वे भूषण उनकी भाभी को दूषण रूप में दिखाई देते थे; इसलिये उनको देख भाभी ने मुँह मचकोया, और कुछ न बोली।

परन्तु नरसिंह म्हेता को इससे दुःख व ग्लानि न हुई क्योंकि उन्होंने अपने असुर अवगुणों से विजय प्राप्त करली थी, इसलिये अपनी भाभी को नमस्कार कर चल दिये, और एकान्त वन में प्राप्त की हुई भक्ति का आनन्द भक्तों को पान कराने लगे। वह त्यागी, वैरागी, अथवा ज्ञानी न थे, परन्तु उनके पास अनन्य भाव की प्रेमलक्षणा भक्ति के प्रवाह वह रहे थे। उस प्रेम भक्तिरूपी नदी के पुण्य प्रवाह में स्नान कर भक्तजन पावन हुये, और संसार उनका लाभ न ले सके, दुर्जनोंने उस भक्ति नदी के प्रवाह को रोकना चाहा, परन्तु जैसे वर्षा ऋतु में वेग से दौड़ती नदियों के प्रबल प्रवाह के बीच में आने वाले पत्थर, इत्यादि पदार्थों को नदी तोड़ फोड़ दूर फैंक देती है, अथवा बहा ले जाती है वैसे

ही नरसिंह महेता की भक्ति को अटकाने का प्रयत्न व्यर्थ गया।

आज गाँव प्रभु नाम की ध्वनि के वातावरण से गूँज उठा, जिधर देखो उधर प्रभु प्रेमी नरसिंह महेता की बातें चलरही थी संतजन वाह! वाह! के शब्दों से सन्त नरसिंह जी की प्रशंसा के पुल बाँधते थे, उधर कोई उनको भला बुरा कह रहा था, उनका यश गांव बाहिर रहते अस्पृश्यों के कानतक पहुंचा। महेता जी नित्य गिरनार पर्वत की तलेटी के दामोदर कुण्ड में स्नान करने जाते थे, उधर एक दिन अस्पृश्य जा चढ़े, और विनय पूर्वक दण्डवत् प्रणाम कर उनके चरणों में लिपट कहने लगे, कि हे दीनबन्धु! आपकी शरण पड़े इन पापियों को उद्धार होने का शुभ रस्ता बतावो, हम आपकी शरण में हैं। यह सुन महेता जी गद् गद् हो कहने लगे कि "भक्ति भाव में चित्त रक्खो प्रभु तुम्हारा कल्याण करेगा।" अस्पृश्यों ने हाथ जोड़ कहा "हे नाथ! हम जन्म से कर्म से व सब बात से नीच हैं। हमारा उद्धार आप समान प्रभु प्रिय भक्तों की कृपा से ही होगा, हम नीच भक्ति व भगवान् के विषय में कुछ नहीं जानते हैं आप कृपा कर हमको समझाइये।" ऐसे दीन और प्रेम भरे वचन सुन सन्त महेता जी से न रहा गया और बोल उठे बहुत अच्छा। मैं तुम्हारे यहां आज रात को भजन कीर्तन करने आऊंगा।

यह निमन्त्रण स्वीकार करना मानो भारी विपत्तियों को आमंत्रण करना था, एक भयंकर साहस करना था, उसके पीछे मानो अनेक प्रकार की उपाधियों और संकटों का सैन्य खड़ा था। इससे महेता जी का सर्वस्व बिगड़ने का संम्भव था, परन्तु अपने प्रभु निमित्त तन, मन, धन, और अपने प्राण की भी परवाह न करे, ऐसे दृढ़ निश्चय वाले महेता जी बिलकुल न डरे, क्योंकि वह भगवान् से नित्य यही प्रार्थना करते थे कि ॥ भक्ति कारण मारो देह दुर्बल हजो, देह कारण रखे स्नेह जाये ॥ अर्थात् परमात्मा के अनन्य प्रेम युक्त भक्त धर्म जिज्ञासुओं को सत्य मार्ग दिखाने के परमार्थ में अपने स्वार्थ की तनिक भी चिंता नहीं करते, और अहर्निश अपने प्रभु से यही प्रार्थना करते हैं कि हे नाथ! आपके लिये हम प्राण या तन की परवाह न करें ऐसी शुद्ध शक्ति और भक्ति हमें दीजिये।

महेता जी के ऐसी निश्चय की (अर्थात् अस्पृश्यों के यहां भजन कीर्तन के लिये जाने की) खबर गांव के लोगों को व ब्राह्मणों को पड़ी, प्रजा में हाहाकार! हुआ, अररर! ब्राह्मण होकर ढेडों के उधर कीर्तन करे, क्या कोई इसके कीर्तन सुनने वाले दूसरे नहीं है? और इन नर्क उठाने वाले भ्रष्ट अस्पृश्यों के घर जायगा, धिक्कार है ऐसे पापी, अधम को। परन्तु जो मनुष्य अनन्य भाव से किसी दूसरे की सत्ता का किसी भी अंश में स्वीकार न करता हुआ निरन्तर केवल परमात्मा का चिन्तन और उसा की उपासना करता है उसके मन में संसारी अनेक तरह के मोह पाश में बन्धे मनुष्यों से सम्बन्ध रखने की कामना ही क्यों होगी? वह तो अपना सब कुछ उस प्रियतम के चरण प्रान्त में अर्पण कर किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करता अस्तु। –

रातको छोटे बड़ों के झुण्डके झुण्ड, तमाशा देखने चले, अनेक पण्डित व नामधारी मनुष्य महेता जी को कीर्तन न करने को समझाने लगे, कोई उनको गाली, और दुर्वचन कहने लगा और कोई ताली बजा हंसते हंसते मस्करी करने लगा।

यद्यपि महेता जी को उन्होंने अनेक तरह के

दुख दिये, तथापि लाभ, हानि, हर्ष, शोक सुख, दुखः मान और अपमान को समान मानने वाले सन्त को उसकी कुछ भी परवाह न हुई। रण संग्राम की दुंदुभियों के नाद बीच घूमने वाला लड़वैया, शीसोटी की अवाज से क्योंकर डरेगा? और जैसे मस्त हाथी मार्ग चलते कुत्तों को भौंकते देख ध्यान नहीं देता वैसे ही इन ठट्ठाबाजियों की तरफ महेता जी ने ध्यान न दिया। उदार स्वभाव वाले महेता जी ने अपना कर्तव्य पूरा किया।

दूसरे दिन नागर ब्राह्मणों कि जातीय सभा इकट्ठी हुई, जिसमें महेता जी को बुला अस्पृश्यों की नाईं दूर खड़ा रहने को कहा गया, जाति के पंचों ने कहा कि हे अधम! तू हमारी जाति को कलंक लगाने वाला है; तू भ्रष्ट, पतित, अपवित्र, धर्म कर्म का त्यागी नराधम और पापी है। उत्तर में नरसिंह महेता ने कहा, सचमुच मैं ऐसा ही अधम हूं और गाने लगे:-

अेवारे अयो अेवारे, तमे कहो डोबली तेवा रे।
सर्व साथ में हुं अके भुण्डो, भुडा थी बहु भुण्डो॥
तमारे मन माने जे कहेजो, नेह लाग्यो मने ईंडोरे।

अरे मैं जैसा आपने कहा उस से भी अधिक पापी हूं, इस सम्बन्ध में आपको जो कहना हो सो कहें, परन्तु मुझे तो प्रभु नाम में लगनी लगी है, और ऐसी बान पड़ी है कि अब वह छुटने वाली नहीं है। क्रोधित हो जाति के पंचो ने महेता जी को जाति बाहिर का हुकम किया और चिढ़ाकर कहने लगे ऐसे भ्रष्ट मनुष्य की हमारी जाति में जरूर नहीं है। महेता जी प्रसन्नता पूर्वक कहने लगे तो बहुत अच्छा, मुझे अब तो सुख से प्रभु नाम लेने का सुअवसर मिलेगा।"

"भले भयुं भागी जंजाल सुखे भजीशुं श्री गोपाल"।

परन्तु दैव की गति विचित्र है, उनको अभी बहुत से दुखों का सामना करना था। अब तक तो केवल घरके कुटुम्बीजन ही विरोधी थे, अब तो घर, गाँव, और जाति तीनों विरोधी बने। और दिन प्रति दिन उनको नये नये दुःख आने लगे।

ऐसे कुअवसर में भी उनकी आज्ञाकारी, पतिव्रता और सुशील पत्नी माणेक बाई का मरण हुआ। नरसिंह महेता ने अपनी स्त्री को परम साध्वी और परम पवित्र सती कह अपने अनेक काव्यों में उसकी प्रशंसा की है। थोड़े समय बाई उनके इकलौते पुत्र शामलश भी अपने पीछे विधवा स्त्री छोड़ इस संसार से चल बसे। ऐसा अनेक आपत्तियों में भी महेता जी ने धीरज रक्खा परन्तु उनकी ऐसी हालत देख उनके स्नेही सन्तजन खेद करने लगे। यह देख महेता जी उनको आश्वासन दे कर धीरज से कहने लगे कि 'इन संकट समूहों को प्रभु ने मेरे कुछ भले के लिये भेजा है, और अपना कर्तव्य भगवद् इच्छा के अधीन रहना है, इसलिये आप किसी बात की चिंता न करें।"

---

* बसन्त *

(रचयिता श्रीमती बृजकुमारी "विदुषी")

आयो बसन्त लता तरु फूले छाई छटा चहु ओर नवेली।
वृन्द २ मिल वन कानन विच खेलत मुदित अली अलबेली,
भौंर २ प्रति मत्त भौंर हो झूम रहे कर केली।
दौर २ का शोर मधुपी युगल करत अठखेली॥
कुंज २ नव पल्लव मंडप तरु प्रमुदित नव बेली।
तान वितान पै पुंज प्रसून सौरभ करै रंग रेली,
कूक कूक कोयल कूकै अम्बुआ डार सहेली।
पी बिन पपीहा! कौन सुहावे "बज" जीवन पहेली॥

आत्मज्ञान के प्रतिबन्ध

गतांक से आगे।

[ले० श्री महात्मा राम]

भावी प्रतिबन्ध जो आगे होने वाला है वह दो प्रकार का होता है। एक प्रारब्धकर्म का शेष, दूसरा ब्रह्मलोक की इच्छा। इन दोनों प्रतिबन्धों के विद्यमान् होते हुए भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता।

प्रश्न-प्रारब्धकर्म भी यदि आत्म ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध करेगा तब तो किसी को भी आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि देह की स्थिति पर्यन्त प्रारब्धकर्म का नाश नहीं होता।

उत्तर-प्रारब्ध दो प्रकार का होता है। एक फलाभिसंधिकृत, दूसरा केवल प्रारब्ध। जो कर्म फल की इच्छा से किया जाता है वह फलाभिसंधिकृत कहा जाता है। और जो कर्मफल की इच्छा रहित निष्काम भाव से किया जाता है वह केवल प्रारब्ध कहा जाता है। अनन्त जन्मों के संचित कर्मों से निकल कर जो कर्म शरीर का आरम्भ करते हैं तथा उस शरीर को शुभाशुभ फल देते हैं उन कर्मों को प्रारब्ध कर्म कहते हैं। फलाभिसंधिकृत प्रारब्ध कर्म चाहे पुण्य रूप हों अथवा पाप रूप हों सर्वथा ज्ञानोत्पत्ति में प्रतिबन्ध ही करते हैं और केवल पुण्य प्रारब्धकर्म तो इस अधिकारी पुरुष के पापों को नाश करके आत्मज्ञान का साधन रूप ही होता है। 'धर्मेण पापमपनुदति। ज्ञानमुत्पद्यते पुंसांक्षयात्पापस्य कर्मणः' यह पुरुष धर्म का अनुष्ठान करके पापों को नाश करै। क्योंकि पाप कर्मों के नाश होने पर ही अधिकारी पुरुषों के हृदय में आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन श्रुति स्मृतियों ने भी पाप कर्मों की निवृत्ति द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति कथन की है। जो प्रारब्ध कर्म जीव को अपना फल देने को सन्मुख हुआ है वह अपना फल दिये विना कदाचित् भी नहीं रह सकता। जैसे व्याध बुद्धि से छोड़ा हुआ बाण पश्चात् गौ बुद्धि होने पर भी अपने लक्ष्य को वेधन किये विना नहीं ठहर सकता। तैसे प्रारब्ध कर्म अपने फल को अवश्य ही भुगाता है। किसी प्रकार भी उसका निवारण नहीं हो सकता।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

पूर्व अनेक जन्मों में किये हुए जो शुभ तथा अशुभ कर्म हैं वह अवश्य ही भोगने पड़ते हैं वह कर्म अपना फल न देकर कोटि जन्मों तक भी नष्ट नहीं होते।

अवश्यं भावी भावानां प्रतिकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः॥

अति तीव्र प्रारब्ध के वेग को यदि कोई निवारण कर सकता तो राजानल, तथा धर्म पुत्र युधिष्ठिर और महाराज श्रीरामचन्द्र जी महान् दुःखों से दुःखित क्यों होते। तथा अन्यान्य हरिश्चन्द्रादि अनेक विपत्तियों को न भोगते। इसलिये प्रारब्ध का शेष जब तक रहता है तब तक आत्म

ज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध करता है और वह प्रारब्ध का शेष आगे कितने शरीरों को उत्पन्न करेगा इसका नियम नहीं है।

जैसे–आगामी प्रतिबन्धोहि वामदेवे समीरितः।
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः॥

यह आगामी प्रतिबन्ध वामदेव के तथा भरत के हुआ है। वामदेव का तो एक ही जन्म में नष्ट होगया। माता के उदर में ही वामदेव को आत्मा का साक्षात्कार हुआ है। और भरत का तीन जन्मों में निवृत्त हुआ है। दूसरा प्रतिबन्ध जो ब्रह्मलोक की प्राप्ति की इच्छा रूप है। इस प्रतिबन्ध के विद्यमान हुए भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता।

जैसे–ब्रह्मलोकाभिवांछायां सम्यक् सत्यां निरुध्यताम्।
विचारयेत आत्मानं नतु साक्षात्करोत्यसम्॥

जो पुरुष ब्रह्मलोक की इच्छा को निरोध करके आत्मा का विचार करता है वह प्रयत्न करता हुआ भी आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता परन्तु उसको आत्म विचार के प्रभाव से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। यथा

वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वा ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यंति सर्वे॥

वेदान्त शास्त्र के श्रवण जन्य ज्ञान द्वारा सम्यक् प्रकार से निश्चय किया है अद्वैत ब्रह्म रूप अर्थ जिन्होंने तथा सर्व संकल्पों के त्याग पूर्वक ज्ञानाभ्यास रूप योग से शुद्ध, अन्तःकरण वाले यतनशील पुरुषों को किसी प्रतिबन्ध के वश इस वर्तमान शरीर में आत्मसाक्षात्कार के अभाव हुए भी पूर्व कृत श्रवणादि साधनों के प्रभाव से ब्रह्मलोक में जाकर निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। पश्चात् ब्रह्मलोक के अधिपति हिरण्यगर्भ के अन्त काल में उन यतेन्द्रिय संन्यासियों को कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वर्तमान प्रतिबन्ध चार प्रकार का होता है। विषयासक्ति, बुद्धिमन्दता, कुतर्क, विपर्यहदुराग्रहः।

शब्दस्पर्शादिक इन्द्रियों के विषयों में जो राग है वह विषयासक्ति कही जाती है। गुरुद्वारा श्रवण करे हुए अर्थ को ग्रहण करने में तथा धारण करने में जो बुद्धि की अकुशलता है वह बुद्धि मन्दता कही जाती है। श्रुतिस्मृतियों से विरुद्ध जो शुष्क तर्क है वह कुतर्क कहा जाता है। और वास्तव में अकर्ता, अभोक्ता आत्मा के जो कर्ता, भोक्ता पने का आग्रह है वह विपर्ययदुराग्रहः कहा जाता है। इन चारों को वर्तमान प्रतिबन्ध कहते हैं। इन वर्तमान प्रतिबन्धों का स्वरूप तथा इनकी निवृत्ति का उपाय शास्त्रकारों ने इसप्रकार कहा है।

प्रतिबन्धो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः।
प्रज्ञामांद्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः॥
शमाद्यैः श्रवणाद्यैर्वा तत्र तत्रोचितैः क्रमम्।
सांसोऽस्मिन्प्रतिबन्धे तु स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते।

विषयासक्ति रूप प्रतिबन्ध का निवर्तक शम दिषट् संपत्ति है। अन्तर मन का विषय चिंतन से निग्रह करना शम कहा जाता है। श्रोत्रादिक बाह्य इन्द्रियों को शब्द स्पर्शादिक विषयों से निग्रह करना दम कहा जाता है। श्रुतिस्मृति विहित सर्व कर्म फल के त्याग पूर्वक जो सांसारिक पदार्थों से उदासीनता है वह उपरति कही जाति है। शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान, निन्दा, स्तुति, इत्यादि द्वन्द्व धर्मों का सहन करना तितिक्षा कही जाती है गुरु तथा वेदान्त वाक्यों में विश्वास करना श्रद्धा कही जाती है। और गुरूपदिष्ट अर्थ में चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं। बुद्धिमन्दता रूप दूसरे प्रतिबन्ध का निवर्तक वेदान्त शास्त्र का वारंवार श्रवण है। कुतर्क रूप तीसरे प्रतिबन्ध का निवर्तक पुनः पुनः श्रवण करे हुए अर्थ का मनन

अनुकूल तर्कों द्वारा निरन्तर विचार करना है। और विपर्ययदुराग्रह की निवृत्ति-श्रवण करते हुए अर्थ में बुद्धि की तैल धारावत् एकाकार स्थिति रूप निदिध्यासन के निरन्तर अभ्यास से होती है। उपरोक्त उपायों के निरन्तर अभ्यास से जब इस अधिकारी पुरुष के प्रतिबन्ध निवृत्त होजाते हैं। तब इसी शरीर में अपने ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है इसमें संदेह नहीं है इसी को मुक्ति कहते हैं इसी को परमपद कहते हैं। यही कैवल्य निर्वाण पद है। यही परम गति है।

धर्म

[ले० श्री स्वामी आत्मानन्द जी]

सनातनी हिन्दुओं का मूल धर्म वेद है। यह सृष्टि के आदि में परमात्मा से उत्पन्न हुआ। इसमें श्रुति प्रमाण है "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदः" बृह०२-४।१० "यद्ऋग्वेदादिकमस्ति, तदेतस्य नित्य सिद्धस्य ब्रह्मणो निःश्वास इवायत्नेन सिद्धम्" कृतः-निश्वसित न्यायेनाप्रयत्नोत्पत्यवगमात्। "तस्मात्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" इति सर्वैर्यज्ञैर्हूयमानात् यज्ञ शब्द वाच्या ब्रह्मणो विस्पष्टमेव वेदोत्पत्तिश्रवणाच्च। अप्रयत्नोत्पत्यैवार्थेषु बुद्धया रचितैः कालिदासादिवाक्यैर्वैलक्षण्यादपौरुषेयत्वम्। प्रतिसर्ग पूर्वन्यासेनोत्पत्तेः प्रवाहरूपेण नित्यता। सर्वज्ञगद्व्यवस्थाप्रकाशित्वेद कर्तृत्व निरूपणेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं निरूपितं भवति।

१ ऋग्वेद २ यजुर्वेद ३ सामवेद ४ अथर्ववेद यह चार वेद हैं। उपयुक्त श्रुतियों का भावार्थ यह है, कि उस परम पुरुष यज्ञ स्वरूप परमात्मा से ही ये चारों वेद उत्पन्न हुए। अब प्रश्न यह है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने वेदों के मन्त्र कैसे उत्पन्न किये। उसका उत्तर यह है कि उस महाभूत परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले। क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था? हां। किस प्रकार छोड़ा वह तो निराकार निरवयव है? उत्तर-:उसका ज्ञान ही उसका श्वास है।

यह श्वास उसने सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के हृदय में छोड़ा था। ये चार ऋषि पहिले पहल सृष्टि में उत्पन्न हुए। उन्हीं चार ऋषियों के द्वारा वेद प्रगट हुए। इसमें शतपथब्राह्मण प्रमाण है। 'अग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदोऽथ चाङ्गिरसः' अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषि के हृदयमें परमात्मा ने पहिले पहल क्रमशः ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद का ज्ञान प्रकाशित किया। अपने हृदय में इन चारों ऋषियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना, इसीलिये वेदों का नाम "श्रुति" पड़ा।

कालिदास आदि के वाक्य बुद्धि पूर्वक रचित हैं और वेद अप्रयत्न से उत्पन्न स्वयं सिद्ध हैं इससे उन वाक्यों से विलक्षणता होने से वेदों को अपौरुषेयपना है। प्रति सृष्टि की रचना के पूर्व अभ्यास से उत्पन्न होने से प्रवाहरूप द्वारा वेदों की नित्यता है। सर्व जगत् की व्यवस्था का प्रकाशन करने वाला होने से ब्रह्म के कर्तृत्व निरूपण से वेदों में सर्वज्ञ पने का निरूपण है। यानी नदी के प्रवाह के समान होने से नित्यता और ब्रह्म की सर्वज्ञता से सर्वज्ञता है।

वेदों में ही परमात्मा ने अखिल मानव जाति के लिये धर्म का ज्ञान दिया है। फिर वेदों से ही अन्य सब ग्रन्थों में ज्ञान का विकास हुआ है।

अर्थात् संसार के अन्य सब ग्रंथ वेदों के बाद रचे गये हैं, उन सब में वेदों के ज्ञानकी ही भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है-जैसे १ ऋग्वेद का अर्थवेद, जिसमें विज्ञान, कलाकौशल, कृषि, वाणिज्य इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। २ यजुर्वेद का धनुर्वेद, जिसमें राजनीति, शस्त्र अस्त्र की कला और युद्ध विद्या का वर्णन है। ३ सामवेद का गन्धर्ववेद, जिसमें संगीत शास्त्र का वर्णन है। ४ अथर्व वेद का आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शरीर शास्त्र इत्यादि का वर्णन है। वेद के छै अंग हैं जिनको वेदांग या शास्त्र कहते हैं उनके नाम इस प्रकार है। १ शिक्षा २ कल्प ३ व्याकरण ४ निरुक्त ५ छंद ६ ज्योतिष। ये छहों अंग भी वेद की व्याख्या करते हैं। छै अंगों की तरह वेद के छै उपांग भी हैं। जिनके नाम ये हैं १ न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ है २ वैशेषिक, कणाद ऋषि का रचा हुआ है ३ सांख्य, महर्षि कपिलका निर्मित किया हुआ ४ योग भगवान पतंजलिका। ५ मीमांसा महर्षि जैमिनि का ६ वेदांत महर्षि बादरायण उपनाम वेदव्यास तथा द्वैपायन का रचा हुआ है। वेद के इन्हीं छै उपांगों को छै शास्त्र या दर्शन भी कहते हैं। इनमें ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्व विचार है। सब के परस्पर सम्बन्ध और बन्ध मोक्ष का उत्तम विचार है। ये भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं। वेदों की व्याख्या करने वाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, ये चार मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, इनमें क्रमशः ऋक् यजु, साम और अथर्व के कर्म कांड की प्रधानता से व्याख्या की गई है। ज्ञानकांड भी है।

१०८ उपनिषद् हैं मुख्यतया ग्यारह हैं-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। सब उपनिषद् प्रायः वेदों के ज्ञान कांड की ही प्रधानता से व्याख्या करते हैं। इनको वेद शिखा भी कहते हैं। उप + नि + षद्, उप = समीप, नि = अत्यन्त, षद् = नाश। अथवा किसी किसी आचार्य ने इसका अर्थ ऐसा भी किया है। उप = समीप, नि = अत्यन्त, षद् = बैठना। यानी जो जिज्ञासु को अध्यापन के द्वारा ब्रह्म के अति समीप बैठने के योग्य बना देता है वह उपनिषद् कहा जाता है। इनमें आत्मज्ञान का निरूपण है, जो मुमुक्षु आवागमन से रहित होना चाहता है उसको यह ग्रंथ उपयोगी है। उसको चाहिये कि वह निष्काम कर्म करके अन्तः करण को शुद्ध करे और फिर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के समीप शिष्य भाव से जाकर श्रद्धा और भक्ति के साथ सेवा करके प्रसन्न करे, तत्पश्चात् अपनी इच्छानुसार प्रश्नों को करे।

स्मृति ग्रन्थ मुख्य मुख्य अठारह हैं-मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, अंगिरस, यम, आपस्तम्ब, सम्वर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पाराशर, व्यास, शंख, दक्ष, शातातप, वसिष्ठ। ये अष्टादश स्मृतियां भिन्न भिन्न ऋषियों की रची हुई उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वेद के धर्माचार की अपने अपने मतानुसार व्याख्या करती हैं। मनुस्मृति सब से प्राचीन और सर्वमान्य समझी जाती है।

पुराण ग्रन्थ मुख्यतया अठारह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म मत्स्य गरुड़ और ब्रह्मांड पुराण, सब पुराण प्रायः व्यासजी के रचे हुए माने जाते

हैं। इनमें विशेष कर इतिहास का वर्णन और देवताओं की स्तुति है। बीच बीच में वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना कांड की व्याख्या भी है।

काव्य इतिहास–हिन्दू धर्म के दो बहुत बड़े महाकाव्य हैं, रामायण और महाभारत। इनको इतिहास भी कह सकते हैं रामायण महर्षि वाल्मीकि और महाभारत महर्षि व्यासजी का रचा हुआ है। रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीमहाराज श्रीरामचन्द्र जी का आदर्श चरित्र वर्णन किया गया है। और महाभारत में विशेष कर कौरवों, पांडवों की कथा है। इससे अतिरिक्त उसमें और भी बहुतसा ऐतिहासिक वर्णन है। स्थल स्थल पर ज्ञान, वैराग्य भक्ति, नीति और धर्म आदि का विस्तार पूर्वक सरलता से सब तत्व बड़ा उत्तम दिया गया है। हिन्दू धर्म का छोटा परन्तु अत्यन्त महत्व पूर्ण धर्म ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता भी महाभारत के ही अन्तर्गत है। यह महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को बतलाया हुआ ज्ञान ग्रन्थ है। महाभारत हिन्दुओं का बड़ा भारी धार्मिक ग्रन्थ है। यहां तक कि इसको पांचवा वेद कहा गया है। एक विद्वान् ने कहा है।

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता॥

अर्थ–महाभारत में वेदों का संपूर्ण सार आगया है और महाभारत का संपूर्ण सार गीता में आगया है। इसलिये गीता सब शास्त्रों का संग्रह मानी गई है।

और भी पंचदशी आदि संस्कृत में और रामायणादि भाषा में धार्मिक ग्रंथ अनेक हैं। श्रीतुलसी कृत रामायण भी भाषा का वेद माना जाता है। वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता कणाद मुनिने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः।" अर्थः–जिससे इसलोक और परलोक दोनों में सुख मिले वही धर्म है। इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म हैं, जिनसे हमको सुख मिलता है और दूसरों को भी सुख मिलता है, वे सब धर्म के अन्दर आजाते हैं।

शंकाः–हम कैसे जाने कि यह मनुष्य धार्मिक है?

समाधानः–इसके लिये मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं, वे लक्षण इस प्रकार हैं।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

भावार्थः–जिस मनुष्य में धैर्य हो, क्षमा, हो, जो विषयों में फँसा न हो, जो दूसरे की वस्तु को मिट्टी के समान समझता हो जो भीतर बाहर से स्वच्छ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकता हो, जो विवेकशील हो, जो विद्वान् हो, जो सत्यवादी हो, जो क्रोधी न हो, वही पुरुष धार्मिक है। ये दश बातें यदि मनुष्य अपने अन्दर धारण करले, तो वह न तो स्वयं दुःख पावे और न कोई उसको दुःख दे सके। "येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानम् न शीलं न गुणो न धर्मः। ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।" भावार्थ–जिन पुरुषों के विद्या यानी आत्मानात्म को बताने वाली ब्रह्म विद्या नहीं और न तप, दान, ज्ञान, शील, गुण, व धर्म नहीं है वे इस संसार में पृथ्वी पर भार रूप ही हैं यानी मनुष्य रूप होकर भी मृग की तरह विचरते हुए जानो।

मनुष्य इस संसार में जो सत्कर्म करता है, जो कुछ वह धर्म संचय करता है, वही इस लोक में उसके साथ रहता है और उस लोक में वही उसके साथ जाता है। साधारण लोगों में कहावत भी है कि, "यश अपयश रह जायगा और बला सब जायगा।" यह ठीक है। मनुजी ने भी यही कहा है–

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ट समंक्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

अर्थः-मनुष्य के मरने पर घरके लोग उसके मृत शरीर को काठ अथवा मिट्टी के ढेले की तरह स्मशान में विसर्जन करके विमुख लौट आते हैं, केवल उसका धर्म ही उसके साथ जाता है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो लोग धर्म छोड़ देते हैं यानी अधर्म से कार्य करते हैं उनकी पहिले वृद्धि होती है, परन्तु वही वृद्धि उनके नाश का कारण होती है। मनुजी ने कहा है "अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति"। अर्थ मनुष्य अधर्म से पहिले बढ़ता है, उसको सुख मालूम होता है अन्याय से शत्रुओं को भी जीतता है, परन्तु अन्त में जड़ से नाश हो जाता है। इस लिये धर्म की मनुष्य को पहिले रक्षा करनी चाहिये। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म भी उसको मार देता है और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म भी उसकी रक्षा करता है। इसीलिये व्यास मुनि ने महाभारत में कहा है कि धर्म को किसी दशा में भी न छोड़ना चाहिये। "न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः। अर्थः- मनो किसी कामनावश, न किसी प्रकार के भय से और न लोभ से यहां तक कि जीवन के हेतु से भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि धर्म नित्य है और ये सब सांसारिक सुख दुःख अनित्य हैं। जीव के साथ धर्म का सम्बन्ध है जीव नित्य होने से धर्म भी नित्य है धर्मी से धर्म भिन्न नहीं हो सकता यह नियम है और उसके हेतु जितने हैं वे सब अनित्य हैं। इसलिये कभी भी किसी भी कारण से धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। स्वधर्म के विषय में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में यहां तक कहा है कि, "श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः॥" अर्थः-अपना धर्म चाहे उतना अच्छा न हो और दूसरे का धर्म चाहे बहुत अच्छा भी हो, परन्तु तो भी (दूसरे का धर्म स्वीकार न करे) अपने धर्म में मरजाना अच्छा है दूसरे का धर्म भय देने वाला ही है। इसलिये अपने धर्म की मनुष्य को यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिये।

मनुजी ने कहा है कि "धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः। तस्माद्धर्मो न हन्तयो मानो धर्मो हतोवधीत्॥ अर्थः-धर्म को यदि हम मार देंगे तो धर्म भी हमको मारदेगा, यदि धर्म की हम रक्षा करेंगे तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिये धर्म को मारना नहीं चाहिये। उसकी रक्षा करनी चाहिये यदि प्राण देने की आवश्यकता हो तो प्राण भी देदेवे, परन्तु धर्म बचाने से हटे नहीं। यही मनुष्य का परम कर्तव्य है। वास्तव में मनुष्य और पशु में यही तो भेद है कि मनुष्य को ईश्वर ने धर्म दिया है और पशुओं को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नहीं। अन्य सब बातें पशु और मनुष्य में समान ही हैं। किसी कविने ठीक कहा है:-

आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिःसमानाः

अर्थ-आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि सांसारिक बातें पशु और मनुष्य दोनों में बराबर होती हैं। एक धर्म ही मनुष्य में विशेष होता है और जिसमें धर्म नहीं वह पशु के तुल्य है।

देखिये धर्मराज युधिष्ठिर के धर्म को। सत्य है "यतो धर्मस्ततो जयः।" यादवों के चले जाने पर युधिष्ठिरादि काम्य वन से द्वैत वन में

चले गये। वहां एक दिन शामको युधिष्ठिर और भीमसेन आदि के साथ द्रौपदी बैठी हुई थी। द्रौपदी युधिष्ठिर से इस प्रकार कहने लगी। "हे नाथ! देखिये, दुष्ट दुर्योधन कैसा निर्दयी है। उसने हम लोगों को इतना सताया पर उसके हृदय में किंचित् भी दया न आई। जिस समय आपने वनवास के लिये मृग चर्म धारण किया, उस समय दुर्योधन शकुनी, कर्ण और दुःशासन इन पाषाण हृदय पापियों के नेत्रों में तनिक भी आंसू नहीं आये, अन्य सब रो दिये। हा नाथ! प्रति दिन मैं आपको सभा में राजाओं के बीच में उच्च आसन पर बैठा हुआ देखती थी। आज आपको इस वन में कुशासन पर बैठा हुआ देख, हा नाथ! कैसे धीरज धरूं। जिन भीमसेन का सदा आदर होता था, आज वे ही दीन के समान दासों का काम कर रहे हैं। जो अर्जुन संसार का धन जीत कर धनंजय नाम से प्रसिद्ध हैं, आज वे ही तपस्वियों के वेश में दुःख भोग रहे हैं। तरुण अवस्था वाले नकुल और सहदेव के सुकुमार शरीर भी वनवास के कठिन दुःखों से कृश हो रहे हैं। हे प्राणवल्लभ, ये हृदयविदारक दृश्य देख कर भी आप शांत हैं, तब यही कहना पड़ता है कि आपमें क्रोध का नाम नहीं है। परन्तु लोग कहते हैं कि क्रोध हीन क्षत्रिय को जो चाहता है, वही दबालेता है। सदा उसका तिरस्कार हुआ करता है जो शत्रुओं को क्षमा करता है उसकी उन्नति नहीं होती।

इसके उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा-प्रिये! क्रोध से भलाई और बुराई दोनों होती हैं। इसलिये देश काल का विचार करके ही क्रोध करना चाहिये। जिस समय जिस स्थान पर क्रोध करना आवश्यक है वहीं क्रोध करना चाहिये। असमय जो क्रोध को नहीं रोकता उसका नाश अवश्य होता है। दुःखी को दुःख देना, घायल को घायल करना, मरे को मारना, सताये हुए को सताना, बहुत ही निन्दित कर्म हैं। यदि लोग ऐसा किया करते तो अब तक संसार नष्ट हो गया होता। सनातन धर्म क्षमा करना ही है। अतः मैंने दुर्योधनादि से क्षमा का व्यवहार किया है। हे प्रिये! धर्म ही मुख्य वस्तु है वही सबको धारण किये हुए है, नहीं तो संसार भ्रष्ट होगया होता। हे सुनयने! हे चरानने! तुम ही विचार करो कि तुम्हारी धर्म ने रक्षा की या नहीं। हे प्रिये! धीरज धरो, कृष्ण की बात झूठी न होगी। उन्होंने जो कुछ कहा वह अवश्य होगा। हे सुमुखी! हे चन्द्रमुखी! चाहे आकाश टूट पड़े, हिमाचल चूर चूर हो जाय, या समुद्र सूख जाय परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् का वचन मिथ्या नहीं हो सकता। लेख विस्तार के भय से संक्षेप से लिखा है जिसका विस्तार पूर्वक देखना हो वह महाभारत के वन पर्व में देखले। कि, धर्म के आदर्श श्री धर्मराज युधिष्ठिर की जीवनी से धर्म का कितना महत्व है और अन्तिम परिणाम क्या है।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि अपनी इस लोक और परलोक की उन्नति के लिये सदैव अच्छे अच्छे गुणों को धारण करे। कई लोग कहा करते हैं कि, अभी तो हमारा जीवन बहुत सा शेष है। जब तक बच्चे हैं, खेलें कूदें, जवानी में खूब आनन्द भोग करें, फिर जबबूढे होंगे, धर्म को देख लेंगे। यह भावना बहुत ही भूल की है। क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है न जाने मृत्यु कब आजावे। फिर यौवन धन संपत्ति का भी यही हाल है। ये सब सदैव रहने वाली चीजें नहीं है। धर्म तो मनुष्य का जीवन भर का साथी है और मरने के बाद भी वही साथ देता है। इसलिये बाल्य अवस्था से ही धर्म का अभ्यास करना चाहिये। धर्म के लिये

कोई समय निश्चित नहीं है कि, अमुक अवस्था में ही मनुष्य धर्म करे। व्यास जी ने महाभारत में कहा है। "न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो, न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते। सदाहि धर्मस्य क्रियेव शोभना, सदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते॥" अर्थ-मनुष्य के धर्माचरण का कोई समय निश्चित नहीं है और न मृत्यु ही उसकी प्रतीक्षा करेगी। मृत्यु ऐसा नहीं सोचेगी कि, कुछ दिन तक और ठहर जाओ, जब यह मनुष्य कुछ धर्म करले, तब इसका ग्रास करो। इसलिये, जब कि मनुष्य एक प्रकार से सदैव ही मृत्यु के मुख में रहता है तब मनुष्य के लिये यही शोभा देता है कि, वह सदैव धर्म का आचरण करता रहे।

मधुर-मिलन

[ले० श्री० कुमारी गंगादेवी भार्गव]

शिखियों के उत्तुंग शिखर जब,
देते नभ को चुम्बन दान।
मुदित मेघगण रसमय हो,
गिरि का करते आलिंगन मान॥
हुलसित होकर जलधि-वीचियां,
होती हैं जब एका-कार,
क्यों न एक तब हो जाऊं मैं,
मिलकर तुमसे प्राणाधार?

योगोपदेश

[ले० श्री स्वामी शिवानन्द जी]

१. प्रातःकाल ४ बजे ब्रह्म मुहूर्त में जो कि आध्यात्मिक ध्यान के लिये बहुत ही उपयुक्त है, उठना चाहिये, और ईश्वर भजन में लगजाना चाहिये। सवेरे के समय मन सोने के पश्चात् शान्त, स्वच्छ और बिलकुल ही ताजा होता है। इस समय मन एक कोरे कागज के सदृश होता है, और प्रायः सांसारिक संस्कारों से भी मुक्त होता है। इस समय इसको बहुत ही सुगमता से मोड़ा जा सकता है इस विशेष समयपर वायु मंडल भी अधिक सात्विक होता है। यदि इस समय स्नान करना कठिन हो तो अपने हाथ, पांव और मुख को शीतल जलसे धोना चाहिये। ऐसा करना पर्याप्त होगा।

२. आरम्भ में आधे घंटे के लिये पद्म, सिद्ध, स्वास्तिक अथवा सुख आसन से बैठना चाहिये। पुनः समय को तीन घंटे तक बढ़ा देना चाहिये। एक वर्ष में आप आसन सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं, कोई भी सुगम व सुखदाई बैठक आसन है।

३. अपने शिर ग्रीवा और पीठको एक सीधी रेखा में रक्खो पुनः गीता के अध्याय ६ के श्लोक ११ व १३ को पढना चाहिये, जहांपर कि आसनों का वर्णन दिया हुवा है। चार तहमें मोड़ा हुवा कम्बल बिछाना चाहिये, और उसपर एक कोमल श्वेत वस्त्र बिछाना चाहिये। ऐसा करना अति पर्याप्त होगा। यदि आप एक अच्छी पंजों आदि सहित सिंहचर्म लेसकें तो यह और भी उत्तम होगा। सिंहचर्म में और ही गुण होते हैं। यह शीघ्रता से शरीर में विद्युत् शक्ति उत्पन्न कर देती

है, और शरीर से विद्युत् धारा को बाहर निकलने से रोकती है, यह मक़नातासी शक्ति से भरी हुई होती है।

४. ध्यान के समय पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होना चाहिये। प्रारम्भिक ध्यान करने वाले को यह नियम पालन करना चाहिये। उत्तराभिमुख होने में वह हिमालय पर्वत के ऋषियों से संगत होगा, और उसे गुप्त रूप से उनसे बहने वाली धाराओं से लाभ होगा।

५. आहिस्ता से या तो हृदय कमल पर या दोनों भ्रुकुटियों के मध्यस्थान पर ध्यान जमाओ। नेत्र बन्द रखने चाहियें।

६. तब अपने इष्ट देवता के मंत्र का जप करना चाहिये। या तो "ओं नमः शिवाय" या "ओं नमो नारायणाय" या "ओं नमो भगवते वासुदेवाय" या "गायत्री" या "श्रीराम" या "हरिओ३म्" का मनमें भावना सहित जप करना चाहिये। भावना देर में अभ्यास से आती है। किसी मंत्र का बिना विचारा हुवा जप भी बहुत अधिक स्वच्छता का प्रभाव डालता है।

७. एक अलग कमरा ध्यान के लिये ताला लगा कर रखना चाहिये। किसी को भी इस कमरे में प्रवेश नहीं करने देना चाहिये। वहां पर प्रातः सायं धूप जलानी चाहिये। भगवान् कृष्ण, या शिव, या श्रीराम, या देवी का चित्र लगाना चाहिये अपना आसन चित्राभिमुख लगाना चाहिये कुछ पुस्तकें भी गीता, रामायण, महाभारत, उपनिषद्, योगवासिष्ठ, भागवत इत्यादिक रखनी चाहियें। जब आप मन्त्र का जप करते हैं, तो मंत्र की शक्तिशाली धारायें कमरे के अवकाश में भरजाती हैं। जब कभी आपका मन सांसारिक प्रभावों से अधिक घबराये तो ध्यान कमरे में बैठकर आधे घंटे तक इष्ट देव के नाम का जप करना चाहिये। तब आप शीघ्र ही अपने मनमें अत्यन्त परिवर्तन अनुभव करेंगे। शांतिप्रद आत्मिक प्रभाव का अनुभव करने का अभ्यास स्वयं करो। आत्मिक साधन के तुल्य कुछ नहीं है। आप अपने गृह में स्थानीय मस्सोरी (Mussorrie) का अनुभव करेंगे।

८. आसन से कई रोग दूर होते हैं यथा बवासीर, अजीर्ण, कब्ज़, कमर का दर्द, दमा, वायुगोला इत्यादिक। यह रजोगुण की अधिकता को रोकता है। शरीर को ठीक आराम बैठक से मिलता है। यदि आप आसन में अभ्यस्त हैं, यदि आप अपनी बैठक में दृढ हैं, तो आप प्राणायाम का सुगम अभ्यास कर सकते हैं। यह अष्टाङ्ग योग अथवा राजयोग की तीसरी अवस्था है। या तीसरा अङ्ग है। प्रथम दम, यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह हैं। दूसरे धार्मिक नियम व आचार हैं, यथा शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानादि। इससे आगे आसन का स्थान है। जब आसन अटल हो जायेंगे तब आप शरीर का अनुभव नहीं करेंगे। जब आप आसनों में स्वामित्व प्राप्त करलेंगे तब आपको विरुद्ध युग यथा शीत व ऊष्ण कष्ट नहीं देंगे। आसन पर अवश्य ही खाली पेट बैठना चाहिये। आप को एक दूध का या चाय का या काफी का छोटा प्याला अत्यन्त लाभकारी हो सकता है।

९. इस कलियुग में, जबकि अधिकांश लोगों की शारीरिक बनावट अच्छी नहीं है, हठयोग का अभ्यास प्रायः असम्भव है। ईश्वर के नामका जप कीर्तन सहित ही ईश्वर प्राप्ति का एक सुगम मार्ग है। तुकाराम, ध्रुव, प्रहाद वाल्मीकि ऋषि, राम कृष्ण परमहंसादि सबने ईश्वर नाम के जप से ही मोक्ष प्राप्त की है। कोई भी मंत्र अतिशक्तिशाली

है, और दीप्तिमान शक्ति का ढेर है। प्रत्येक मंत्र में मंत्र शक्ति और मंत्रचैतन्य है। यह मानसिक द्रव्य को विषय वासना से स्वच्छता में परिवर्तन करता है। यह मनको शान्त व बलवान् बनाता है। यह मनको अन्तरावलोकी बनाता है। यह मन की बाहरी चालों को रोकता है। यह समस्त प्रकार के दुर्विचारों व इच्छाओं को निर्मूल करता है। यह निश्चय करने और तपस्या के अभ्यास को उभारता है। अन्त में यह सीधा ईश्वर की अर्थात् इष्ट देवता या पालक देवता के दर्शन की ओर लेजाता है।

१०. मंत्र का जप करते समय सात्विक भाव या शुद्धभाव रखने चाहियें। इस प्रकार करना मंत्र के बल को बढ़ाता है। जब स्वच्छता का कार्य होता रहता है तब भाव आहिस्तार आता है। केवल बिना विचारे जप भी बड़ा प्रभाव शाली होता है। जप से उत्पन्न हुई धारा मन द्रव्य को स्वच्छ करती है।

११. मंत्र का जप दैनिक कमसे कम २१६०० बार होना चाहिये, जितने बार कि प्राकृतिक तौर से २१६०० 'सोहम्' स्वांस प्रत्येक जीवित व्यक्ति बाहर निकालता है और भीतर लेजाता है! प्रत्येक मनुष्य अनभिज्ञता से २१६०० बार "सोहम्" मंत्र का २४ घंटे में जप करता है। जब मंत्र का प्रभाव बलवान् होगा तब मन शीघ्र ही स्वच्छ होजावेगा।

१२. जप माला को सदा अवश्य ही अपनी जेब में और अपने तकिये के नीचे रखना चाहिये, यह आपको प्रत्येक क्षण ईश्वर की याद दिलाती रहेगी जब कि आप उसे माया बल या अविद्या बल से भूल जाते हैं।

१३. मनको स्वच्छ रखने के लिये स्वच्छ भोजन आवश्यक है। मांस, मछली, लस्सन, प्याज, व मदिरा विषय वासना को उकसाते हैं। इनका प्रयोग त्याग देना चाहिये। सरसों का तेल, लाल मिर्च, गर्म व तीक्ष्ण द्रव्य खट्टे पदार्थ व कटु पदार्थ कदापि नहीं खाने चाहिये। राजसिक भोजन मनको विचलित करते हैं।

१४. हरी दाल, दूध, घी बादाम, क्रीम (Creem) मक्खन, मिश्री, मीठे संतरे, सेव, अंगूर, केले, अनार, चावल, रोटी और काली मिर्च, सूँठ व नीबू के खाने से अधिक लाभ हो सकता है। सात्विक भोजन ध्यान में सहायक होता है।

१५. रात को बांई करवट सोना चाहिये। इस से रात को पिंगल की सूर्यधारा अपना कार्य सुगमता से करती है। सूर्यधारा गरमी पहुंचाती है। अतः भोजन भले प्रकार से पचता है। आपको कोई रोग न होगा और दीर्घायु होगी।

१६. गीता का एक अध्याय दैनिक पढ़ना चाहिये। यही स्वाध्याय है। असली सत्संग के अभाव में गीता ही आप का अच्छा संगी है।

१७. दूसरों से अधिक न मिलो जुलो। अनिच्छुक पुरुषों से अधिक मिलना जुलना मन में ईर्षा व राग द्वेष को उभारता है।

१८. कम वार्तालाप करना चाहियें। व्यर्थ गप शप व दीर्घ स्वर वार्तालाप से अधिक शक्ति नष्ट होती है। तमाम शक्तियों का बनाये रखना और उनका योग या आत्मिक शक्ति में परिवर्तन करना परमावश्यक है। ऐसा करना योग में सहायक है।

१९. दिनके समय कदापि न सोना चाहिये। इससे अल्पायु होती है, और यह बहुत बुरी आदत है।

२०. रविवार को तीन घंटे मौनव्रत पालन करना चाहिये। मौन रहना मानसिक शक्ति को बढ़ाता है, संकल्प शक्ति को रोकता है, और मन को शान्ति देता है। आप की सहन शक्ति बढ़ेगी।

आप असत्य भाषण न करेंगे। आप को अपने भाषण पर अधिकार होगा। आपकी शक्तियें बनी रहेंगी। यह वाक् इच्छा को कम करता है वाक् इन्द्रि मन को अधिक विचलित करती है और अधिक विक्षेप पैदा करती है। मौन विक्षेप को बहुत दूर करता है।

२१. संसार दुःखमय है। मन प्रत्येक क्षण लुभाता है और छलता है। मन की भ्रांति से दुःख भी सुख समझ जाता है। जब गम्भीरता से विचारें तो यह संसार एक अग्नि का गोला है। हमारे अन्दर ही काम और क्रोध की दो अग्नियां वर्तमान हैं जिन का शांत करना अत्यन्त ही कठिन है।

२२. प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में सुख के लिये प्रयत्न करता है, और दुःख से बचना चाहता है।

२३. नित्य सुख और परमशान्ति केवल ईश्वर में ही मिल सकती हैं अतः ईश्वरानुभव ही मनुष्य जीवन का ध्येय है।

२४. ईश्वर आपके हृदय में हैं। वह आपके भीतर है और आप उसके भीतर हैं। उसकी खोज अपने हृदय में करो। यदि आप उसे वहां नहीं पाते हैं तो आप उसे और किसी स्थान पर नहीं पा सकते।

२५. ईश्वर सत्य है। ईश्वर प्रेम है। "सत्यम् वद" सत्य बोलो। सब से प्रेम करो। इस प्रकार आप उसे शीघ्र ही पायेंगे।

२६. कार्य ही पूजा है। कार्य ही ध्यान है। बिना किसी कारण के विचार के, बिना फल व नतीजा के चाहे, सब की घनिष्ट प्रेम से सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार आप ईश्वर को पायेंगे, क्योंकि मनुष्य सेवा ही ईश्वर सेवा है।

२७. उसके नाम का जप करो। उसकी स्तुति का कीर्तन करो। आप ईश्वरानुभव करेंगे। इस युग में यही सुगमतर पथ है। परन्तु नियमानुसार होना परमावश्यक है। आप को इसे नियम से क्रमानुसार करना चाहिये।

२८. ईश्वर आपसे बहुमूल्य भेंट नहीं चाहता, वह आपका हृदय चाहता है। बहुधा मनुष्य औषधालय खोलने में और भोजन बाँटने में सहस्रों रुपये व्यय कर डालते हैं। परन्तु वह अपना हृदय नहीं देते।

२९. भक्त के हृदय में सर्वव्यापी राम का वास होना चाहिये, यद्यपि वह बाहर राम का साकार रूप धनुषहस्त देखता है। राम भी 'ओं' की भांति सर्वव्यापक हैं।

३०. ईश्वर अतिन्द्रिय हैं। वह अवाक् व मनोगोचर है। परन्तु वह ध्यान गम्य है और अनुभव गम्य है। वह अपरोक्ष अनुभूति वस्तु है।

३१. प्रह्लाद ध्रुव, तुलसीदास, तुकाराम, रामदास, कबीरादि भक्तों ने उसे केवल अनन्य भक्ति से पाया है। आप भी क्यों नहीं पाते। जो कार्य एक ने किया है, दूसरा भी उसे कर सकता है।

३२. मैं पुनः एक बार दोहराता हूं कि किसी भी मन्त्र का जप मन की शुद्धि के लिये अत्यन्त शक्ति शाली है। समस्त शक्तियां ईश्वर के नामों में हैं। मन्त्र दीप्तिमान तेज या शक्ति का समूह है।

३३. मन्त्र जप से जो धारायें उत्पन्न होती हैं वह मानसिक द्रव्य को रजोगुण व तमोगुण से सतोगुण में परिवर्तन कर देती हैं। वह मन को अन्तर्मुख बनाती हैं। वह समस्त वासनाओं का क्षय करती हैं। वासना एक छलने वाली इच्छा होती है। यह एक गुप्त इच्छा होती है। यह धकेलने वाली शक्ति होती है जो किसी इच्छा के पूर्व उत्पन्न होती है। यह एक गुप्त प्रवृत्ति होती है।

३४. जप विचार धाराओं की शक्ति को अभिप्रायिक वस्तुओं की ओर से रोकता है।

३५. जप मन को ईश्वर की ओर ले जाने के लिये विवश करता है।

३६. यह अन्त में ईश्वर दर्शन में सहायक होता है प्रत्येक मन्त्र में चैतन्य छुपा हुआ है।

३७. यह साधक की साधन शक्ति को बढ़ाता है।

३८. प्रारम्भिक को जपमाला रखनी चाहिये। आगे चल कर यह मानसिक जप का अवलम्बन ले सकता है।

३९. यदि कोई मनुष्य दैनिक ६ घण्टे मन्त्र जप करता है, तो उसका हृदय शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। वह शुद्धि का अनुभव कर सकता है।

४०. आपका मन्त्र में विश्वास होना परमावश्यक है। भाव आगे चल कर प्रकट होता है।

४१. जितना भी मन्त्र छोटा होगा उतनी ही मनोवृत्तियाँ अधिक एकत्र होंगी। समस्त मन्त्रों में 'राम राम राम' ही उत्तम है। इसका जाप भी सुगम है।

४२. यदि आप एक ही समय इकट्ठा मन्त्र जप करने से थक जाते हैं, तो ३ या अधिक बार दैनिक बैठने लगो। अर्थात् प्रातः ४ बजे से ७ बजे तक, सायंकाल ४ बजे से ५ बजे तक, रात्रि को ६ बजे से ८ बजे तक।

४३. जब आपको ऐसा प्रतीत हो कि आपका मन अधिक विचलित हो रहा है तो कुछ समय के लिये मन्त्र जप अत्यन्त शीघ्रता से करो।

४४. उत्तम नियम तो यह है कि मन्त्रजप न तो अधिक शीघ्रता से और नहीं अधिक विलम्ब से होना चाहिये। सुगम पथ का अवलम्बन करना चाहिये।

४५. यदि आप किसी नदी के किनारे, या झील के किनारे, या कूप के समीप या मन्दिर के समीप या पर्वत के दामन में, या सुन्दर उद्यान में, या एकान्त कमरे में बैठें तो आप का मन बिना अधिक परिश्रम किये ही शीघ्रता से एकाग्र हो जायेगा।

४६. यदि मन्त्रजप ऐसे समय करेंगे जबकि आप का पेट अधिक भरा हुआ है, तो आपको ऊंघ आने लगेगी। अतः हलका भोजन करना चाहिये।

४७ गीता, भागवत या रामायण पढ़नी चाहिये। प्रथम कोई प्रार्थना करनी चाहिये, पुनः जप के लिये बैठना चाहिये। माला को सुगमता से फेरना आप को अति आनन्ददायक अनुभव होगा। मन भी सुगमता से वश होता जायेगा।

४८. अध्यात्मिक अभ्यास में सदैव साधारण बुद्धि से काम लेना चाहिये।

४९. दैनिक जप संख्या लिखने को एक डायरी रखनी चाहिये।

५०. जब आप माला फेरें तब प्रथमा अंगुली से न फेरें। दक्षिण अंगूठा और मध्यमा अंगुली से फेरनी चाहिये।

---

* गोपाल-कृष्ण *

(ले० श्री गंगा विष्णु पाण्डेय, विद्याभूषण "विष्णु")

(१)

आपने ही पाया एक जिनकी कृपा का फूल,
लोक में गोपाल एक आपही कहाते थे।
जिनपर आपका हमेशा रहता था प्रेम,
पीठ पर हाथ फेर जिनको खिलाते थे।
आग और पानी के भयंकर प्रवाह में भी,
प्राणों पर खेलकर जिनको बचाते थे।
वे ही पुत्र गायें आज दुःख पारही हैं आप,
जिन की चरण-रज शिरपै लगाते थे।

(२)

जिनको चराते थे बड़ी खुशी से कृष्ण ! आप,
हाथों से हरी-भरी सी घासको खिलाते थे।
बांसुरी बजाते थे कदंब पर बैठकर,
जिन्हे बार बार नाम लेलेके बुलाते थे।
साथ-साथ घूमते थे और मुख चूमते थे,
तीर जमुनाके नीर जिनको पिलाते थे।
वे ही पूज्य गायें आज दुःख पारही हैं "विष्णु"
दौड़ दौड़ आप जिन्हे घेर घर लाते थे।

प्रेमा भक्ति का छठा साधन रुचि है

(ले० भक्तरत्न श्री मथुराप्रसाद जी)

मन के लगाव का नाम रुचि है। इसी को यवन भाषा में रग़बत कहते हैं। जिस वस्तु में रुचि होजाती है उसके सिवाय दूसरी चीज में मन नहीं लगता और न दूसरे की इच्छा होती है। जैसा निम्नलिखित दोहों से सिद्ध होता है:-

जबसे शुभ गुण श्याम के सुने पड़े मम कान।
रुचै न जग की संपदा भावै खान न पान॥
टरै न काहू जतन मन धावै उनकी ओर।
छिन छिन रुचि है बढ़रही उठो हृदय चितचोर॥

एक प्यारे के सिवाय और किस वस्तु की चाह न रहे इसमें दृष्टान्त सुनिये:-

एक राजा के कई रानियें थीं, वह विदेश गया, और सब रानियों से कहा कि जो जो वस्तु तुम्हें भावे सो न्यारे न्यारे कागज पर लिखकर हमें देदेा वापिस आने पर लेते आवेंगे। तीन रानियों ने अलहदा अलहदा कागज पर लिखकर लिफाफे बंदकर के अपनार नाम लिखकर राजा को दे दिये उन में किसी ने कोई कपड़ा किसी ने कोई भूषण किसी ने कोई खाने पीने की चीज लिखी, परन्तु चौथी सबसे छोटी रानी ने एक परचे पर एकका अंक लिखकर लिफाफा बंद करके सौंप दिया। जब राजा जी परदेश से अपने देश को लौट कर आने लगे तो लिफाफों को खोल जो जो वस्तु तीन रानियों ने लिखी थी खरीद करके साथ ले ली। जब चौथा लिफाफा खोला तो उसमें एक का अंक देखकर चकित होगये, कुछ समझ में नहीं आया क्या मंगाया है। मंत्रियों से सम्मति ली तो एक चतुर मंत्री ने कहा कि महाराज! इस एक के अंकका मतलब यह पाया जाता है कि वह रानी एक आपके सिवाय और कुछ नहीं चाहती, राजा जी घर पहुंचे तो और रानियों के पास उनकी मंगाई हुई सौग़ात भेजदी और आप अकेले उस चौथी रानी के पास पहुंचे। राजा के साथ जो कुछ सम्पत्ति थी सब उसी छोटी के पास अपने आप पहुंच गई। परिणाम यह हुआ कि छोटी रानी को राजा जी के मिल जाने से स्वतःसिद्ध सब संपत्ति मिल गई और जिनको और वस्तुओं की चाह थी वह राजा से न मिल सकी:-

इसी प्रकार भगवद् भक्तों को जब भगवत् में रुचि होकर जगत् के सब पदार्थों से चित्त हट जाता है तो उन्हें भगवत् प्राप्ति होकर सब रिद्धि सिद्धि अनायास प्राप्त होजाती हैं और जबतक रुचि जगत् के अन्य पदार्थों या अन्य किसी व्यक्ति में रहती है भगवत् प्राप्ति नहीं होती। रुचि के अनन्तर आसक्ति का वर्णन आगे किया जायगा।

इति।

महाकवि सूरदास जी।

महाकवि सूरदास जी का जन्म, ख्याल है कि सम्वत १५४० वि० में हुआ था और मृत्यु के बारे में भी अनुमान ही है कि सम्वत् १६२० वि० में हुई होगी क्योंकि इस बारे में कोई पक्का सबूत नहीं मिलता और साथ ही यह भी अनुमान किया जाता है कि सूरदास जी निश्चय ही जन्मके अन्धे न थे और पहले काम के वशीभूत हो कर एक बनिया-स्त्री पर आसक्त हो जाने और फिर उस स्त्री के त्यागवश मनोरथ पूरा कर देने पर उतर आने से होश ठिकाने आ जाने पर उस कुदृष्टि के पश्चात्ताप स्वरूप अपने ही हाथों अपने नेत्र निकाल लेने की जो इनके बारे में किंवदन्ती है, वह भी ठीक ही होगी।

सूरदास जी की गणना अष्टछाप में है और हिन्दी कवियों में यह सूर्य्य समझे जाते हैं, जो कि सोलह आने ठीक है। यह महानुभाव श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु के शिष्य थे, यह बात इनके इस पद से भी प्रमाणित होती है कि "श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो।"

इनके बनाये हुए तीन ग्रन्थ तो उपलब्ध हैं- सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी (दृष्ट कूट) परन्तु कहते हैं कि ब्याहलो" तथा "नलदमयन्ती" नाम के या और ग्रन्थ भी इनके बनाये हुए हैं, परन्तु उपलब्ध नहीं हैं।

इनकी अन्तिम कविता जो वैकुण्ठधाम जाने के समय इन्होंने बनाई थी, वह यह है:-

खंजन नैन रूप रस माते।
अति सै चारुन चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्रवननके, उलटि पलटि ताटंक फंदाते
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उडि जाते॥

सूरदास जी को दो बार भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र जी के भी दर्शन हुए थे। कहते हैं कि सूरदास जी के पास एक नौकर था, जिसका नाम कृष्ण था। एक बार सूरदास जी नौकर को लेकर शौचादि के लिये बाहर मैदान में गये। सूरदास जी एक ओर शौच के लिये बैठ गये और नौकर दूसरी ओर उनसे काफी दूर पर शौच के लिये बैठ गया। दैवयोग से सूरदास जी पहिले शौच करके उठ खड़े हुए और नौकर को इसका कुछ पता न लगा। सूरदास जी लगे हाथ पसार पसार कर चलने और कृष्ण कृष्ण पुकारने। अकस्मात् सूरदास जी का पांव रास्ते में पड़े हुए एक अन्धकूप में पड़ गया और धम से उसमें जा गिरे। बड़ी मुश्किल बनी। नौकर को तो इसकी खबर नहीं अब निकाले कौन। सूरदास जी मन में भगवान कृष्ण का ध्यान करते हुए कृष्ण कृष्ण पुकारने लगे। अभी कुछ ही समय ऐसा करते हुआ था कि किसी ने बांह पकड़ कर सूरदास जी को कूएं से बाहर निकाल लिया। सूरदास जी का बाहर निकलना था कि उनमें एक अलौकिक तेज का संचार हो गया और नेत्र खुल गये। नेत्र खुलते ही क्या देखते हैं कि सामने साक्षात् भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी खड़े हैं। सूरदास जी गद् गद् होकर भगवान की स्तुति करने लगे और मन ही मन अपने भाग्य की भी सराहना करने लगे। यहां एक बात और भी जान लेनी चाहिये कि अब तक सूरदास जी वैसे के वैसे ही भगवान का हाथ पकड़े हुए थे, जिससे कि कूप से निकलते हुए कहीं गिर न जाएं, इस विचार से दृढ़ता पूर्वक पकड़ा हुआ था। जब काफी देर तक सूरदास जी भगवान का हाथ पकड़े रहे और छोड़ने का विचार

तक भी कभी मन में न लाने लगे तो आखिर भगवान् ने स्वयं ही अपना हाथ सूरदास जी के हाथ से खींच लिया और अन्तर्धान होने लगे। यह देख कर प्रेमोन्मत्त हुए सूरदास जी ने कहा—

बांह छुड़ाये जात हो, निबल जानि कै मोहि।
पै मन से निकसौ जबी, सबल बखानौं तोहि॥

भगवान् बोले, सूरदास जी! हम तुम्हें निर्बल समझ कर तुम से हाथ छुड़ा कर नहीं जा रहे हैं, बल्कि बात यह है कि आखिर हमें जाना जो ठहरा और आप जाने नहीं देना चाहते, इसलिये विवश होकर हमें ऐसा करना पड़ा है। आप इससे कुछ नाराज़ न हों। हम तुम पर बहुत प्रसन्न हैं। तुम हमारे अनन्य भक्त हो इसका हमें देर से निश्चय हो चुका है। मांगो क्या वर मांगते हो। सूरदास जी ने हाथ जोड़ कर कहा कि भगवन्! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे अपने चरणों की दृढ़ प्रीति दीजिये और साथ ही यह भी चाहता हूं कि जिन नेत्रों से मैंने अब आप के दर्शन किये हैं, उन से और किसी को न देखूँ। अतः यह नेत्र फिर पूर्ववत् बन्द हो जायें। भगवान ने प्रसन्न होकर एवमस्तु कहा और अन्तर्धान हो गये। सूरदास जी प्रसन्न होकर फिर पहिली दशा में हो, अर्थात् अन्धे बने हुए भगवान् का भजन करने लगे। इतने में कृष्णा नौकर भी आगया और उसके साथ अपने वास स्थान पर आगये।

दूसरी बार सूरदास जी को भगवान कृष्ण के दर्शन तब हुए थे, जब उनके स्वर्ग सिधारने का समय समीप आया था। कहते हैं कि एकबार भगवान कृष्णचन्द्र जी ने प्रकट होकर सूरदास जी से कहा कि सूरदास जी अब आपके स्वर्ग सिधारने का समय समीप आ गया है, कहिये क्या बात है। सूरदास जी ने कहा कि भगवान! उस दिन धर्मराज के दूत भी मुझे यही सूचना देने आये थे। मैंने उनसे भी साफ कह दिया था और आप से भी कहे देता हूं कि मैंने आप की लीला के सवालाख पद बनाने का प्रण किया हुआ है पर बने अभी तक आधे भी नहीं हैं सो जब तक वह बन नहीं जायेंगे, मैं कदापि यहां से नहीं जाऊंगा। भगवान् बोले, सूरदास जी जिस समय किसी की आयु समाप्त हो जाती है तो उसे उसी क्षण यहां से कूच कर जाना होता है सो आप को भी ऐसा करना ही पड़ेगा। बाकी रही प्रतिज्ञा की बात, सो हम आपकी प्रतिज्ञा पूरी करा देते हैं। आप बनाइये कविता। कहते हैं कि सूरदास जी उसी समय कविता करने बैठ गये और भगवान् की कृपा से शीघ्र ही शेष सारी कविता बना बैठे। इस सारी कविता में, जोकि भगवान् के विशेष प्रसाद से उन्होंने बनाई उसमें भगवान् का नाम भी अपने नाम के साथ रक्खा। कहने की आवश्यकता नहीं कि सूरदास की अपेक्षा सूरश्याम की कविता विशेष सुन्दर है।

सारांश यह है कि सूरदास जी एक आदर्श भगवद्भक्त और महाकवि थे।

भजन

मैं तो आन पड़ी चोरन के नगर
सत्संग बिना जिया तरसे ॥ १ ॥
इस सत्संग में लाभ बहुत है,
तुरत मिलावे गुरसे ॥ २ ॥
मूरख नर कोई सार न जानै,
सत्संग में अमृत बरसे ॥ ३ ॥
सब्द सा हीरा पटक हाथ से,
मुट्ठी भरी कंकर से ॥ ४ ॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
सुरत करो वहि घरसे ॥ ५ ॥

२

भाई कोई सत्गुरु संत कहावै।
जो नैनन अलख लखावै ॥ टेक ॥
डोलत डिगै न बोलत बिसरै,
जब उपदेश दृढावै ॥ १ ॥
प्राण-पूज्य क्रिया तें न्यारा,
सहज समाधि सिखावै ॥ २ ॥
द्वार न रुंधै पवन न रोकै,
नहिं अनहद अरुझावै ।
यह मन जाय जहां तक जबहीं,
परमातम दरसावै ॥ ३ ॥
करम करै निःकर्म रहै जो,
ऐसो जुगत लखावै ।
सदा विलास त्रास नहि मनमें,
भोग में जोग जगावै ॥ ४ ॥
धरति त्यागि अकासहुं त्यागै,
अधर मड़ैया छावै ।
सुन्न सिखर के सार सिला पर,
आसन अचल जमावै ॥ ५ ॥
भीतर रहा सो बाहर देखै,
दूजा दृष्टि न आवै ।
कहत कबीर बसा है हंसा,
आवागमन मिटावै ॥ ६ ॥

३

जबतें मन परतीति भई ॥ टेक ॥
तब तें अवगुन छूटन लागे,
दिन २ बाढत प्रीति नई ॥ १ ॥
सुरति निरति मिलि जान जौहरी,
निरखि परखि जिन वस्तु लई ॥ २ ॥
थोड़ी बनिज बहुत है बाढ़ी,
उपजन लागे लाल मई ॥ ३ ॥
अगम निगम तू खोजु निरंतर,
सत्तनाम गुरु मूल दई ॥ ४ ॥
कहै कबीर साध की संगति,
हुती विकार सो छूटि गई ॥ ५ ॥

४

जिनकी लगन गुरू सों नाहीं ॥ टेक ॥
ते नर खर कूकर सम जगमें,
विरथा जन्म गवाहीं ॥ १ ॥
अमृत छोड़ि विषय रस पीवें,
धृग् धृग् तिनके ताईं ॥ २ ॥
हरी बेल की कोरी तुमड़िया,
सब तीरथ करि आई ॥ ३ ॥
जगन्नाथ के दर्शन करके,
अजहुं न गई कड़ुवाई ॥ ४ ॥
जैसे फल उजाड़ को लागो,
बिन स्वारथ झरि जाई ॥ ५ ॥
कहै कबीर बिन बचन गुरू के,
अन्त काल पछिताई ॥ ६ ॥

५

सत्गुरु हो महाराज मोपै साँई रंग डारा ॥ टेक ॥
सब्द की चोट लगी मेरे मनमें, बेधगया तन सारा ॥
औषध मूल कछु नहिं लागे, क्या करे बैद बिचारा ॥
सुर नर मुनि जन पीर औलिया कोई न पावे पारा ॥
साहेब कबीर सर्व रंग रंगिया सब रंग ते रंग न्यारा

६

ऋतु फागन नियरानी कोई पिया से मिलावे ॥टेक॥
सोई तो सुन्दर जाके पिया को ध्यान है,
सोई पिय के मनमानी ॥
खेलत फाग अंग नहीं मोड़े, सत्गुरु से लपटानी ॥
इक २ सखियां खेल घर पहुंची ।
इक २ कुल अरुझानी ।
इक २ नाम बिना बहकानी,
हो रही ऐंचातानी ॥ २ ॥
पिया को रूप कहां लग बरणों रूपहि माहिं समानी
जो रंग रंगे सकल छबि छाके,
तन मन सभी भुलानी ॥ ३ ॥
यों मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ कहानी ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
यह गति बिरले जानी ॥ ४ ॥

७

काया गढ जीतो रे भाई ॥ टेक ॥
जोति सरूपी देव निरंजन, वेदन उनको गाई ॥१॥
ओअं ररंग अडे जहं दुई दल, अजपा नाम सहाई ॥
सुरति सुहागन मिलत पिया को तनके तपन बुझाई॥
कहै कबीर मिले गुरु पूरे, सबद में सुरति मिलाई ॥

८

जागत जोगेश्वर पाया मेरे रबजू जागत जोगेश्वर पाया
हंसा एक गगन बिच बैठा जिसके पंख न काया ।
बिना चौंच का चून चुगत है दशवें द्वार बसाया ॥१
मूसा जाय बिल्ली संग अरुझा स्यारन सिंह डराया
जल की मछली उदयाचल व्याही ऊरज खंड जमाया॥
अलख पुरुष की अचला बस्ती जाकी शीतल छाया ।
कहत कबीर सुनो गोरख जोगी जिन ढूँढा तिन पाया॥

९

मुरलिया की धुन सुन के हम से रह्यो न जाय ॥
पांच तत्व का पूतला ख्याल रच्यो घट माँहि ।
बिना बसन्त फूल इक फूले भंवर रह्यो अरझाय ॥१
गगन गराजे बिजली चमके उठती हिये हिलोर ।
बिकसत कमल अरु मेघ बरीसे खितयत प्रभु की ओर
तारी लगी तहां मन हुआ गैब ध्वजा फहराय ।
कहै कबीर कोई सन्त बिवेकी जीयत ही मर जाय ॥

१०

कहा नर गर्वत थोरी बात ॥
मन दस नाज टका चारि गांठी ऐंडो २ जात ॥१॥
बहुत प्रताप गांव सौं बांधे है लख टका बरात ॥२॥
दिवस चार की करो साहगी जैसे बनहर पात ॥३॥
ना कोऊ लेआयो ये धन ना कोऊ ले जात ॥४॥
रावण हू ते अधिक छत्रपति छिन में गये बिलात ॥
हरि के सन्त सदा थिर पूजा जो हरि नाम जपात ॥
जिन को कृपा करत है गोविन्द ते सत्संग मिलात ॥
मात पिता बनिता सुत सम्पति अन्त न संग चलात॥
कहत कबीर राम भज बौरे जन्म अकारथ जात ॥६

११

कोई सुनता है गुरु ज्ञानी गगन में अवाज हो रही झीनी
पहले होता नाद बिन्दु से फेर जमाया पानी ।
सब घट पूरन पूर रहा है आदि पुरुष निर्बानी ॥
जो तन पाया पटा लिखाया तृष्णा नहीं भुलानी ।
अमृत रस छोड़ बिषय रस चाखा उलटी फांस फंसानी
ओहं सोहं बाजा बाजे त्रिकुटी सुन्न समानी ।
इड़ा पिंगला सुषमन सोधो सुन्न ध्वजा फहरानी ॥
दीद बंदीद हम नजरों देखा अजरा अमर निशानी ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो यही आदि की बानी ॥